स्वामी विवेकानन्द कृत—

प्राच्य और पाश्चात्य ।
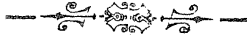
अनुवादक—

पण्डित नरोत्तम व्यास ।

प्रकाशक—

साहित्य-रत्न-कार्य्यालय,

आगरा ।

शान्ति प्रेस आगरा ।

मूल्य ।≥)
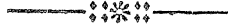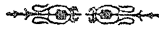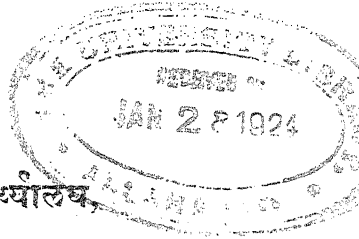
उत्सर्ग ।

अपने अभिन्न हृदय मित्र

श्री आदित्य प्रकाश जी गुप्त बी. ए.

के

कर कमलों में

यह अनुवाद

सादर समुत्सर्गित है ।

प्रेम-पात्र

'नरोत्तम व्यास'

उपोद्घात।

"भारतोत्थान" की समस्या को लेकर देश में इस समय बड़ा गोलमाल उपस्थित हो रहा है। साम्प्रतिक गोलमालकारियों के प्रायः दो बड़े बड़े दल हैं।

एक दल का विचार है कि—"भारत का प्राचीन जो कुछ है—'नाशकारी'। उसका धर्म, उसकी रीति, उसकी विद्या, यहां तक कि उसका सब कुछ, रूढ़ियों पर निर्भर है—उसमें सार कुछ भी नहीं। इसलिये देश अधोगति के इस दर्जे पर पहुँच गया।"

दूसरा दल कहता है—"ये लोग एकदम पागल हैं—अधार्मिक हैं—इन्हें ज़रा भी होश हवाश नहीं। ऐसे लोगों की संख्या बढ़ते जाने से देश का सर्वनाश निकट आता जाता है। यह सबको शीघ्र ही विधर्मी बनाकर भारत को म्लेछ स्थान किये देते हैं। सब गुण और सब विद्या हममें हैं—यूरोप ने सब कुछ सीखा हमारे यहां से। अथवा जो कुछ है सो है। न हमें कुछ सीखना है न बदलना।"

यूरोपीय विद्वानों के पक्षपात पूर्ण हृदयों से निकले हुए भाव, और कुचक्रों से प्रेरित हुए मस्तिष्कों से लिखे हुए उन के ग्रंथ, तथा भारत की वाह्य रीतिरिवाजों, और स्थानीय धर्माडम्बरों के बाहिरी पहलू को देखकर धोखा खाई हुई बुद्धिवृत्ति के पदानत होने वाली भारतीय कल्पना तथा अपने ही धर्म-विज्ञान और सामाजिक व धार्मिक संगठन-तत्वों से पूर्ण अनभिज्ञता ही पहले दल के लोगों की "विचार-विधाता" है।

और परम्परा से प्रचलित धार्मिक सामाजिक रूढ़ियों के प्रभाव से दूसरे दल के लोगों का हृदय बिलकुल जकड़ रहा है। सामान्य से सामान्य विषय पर यह स्वतंत्रता पूर्वक विचार नहीं कर सकते—इसी लिये रात दिन "विधि निषेध" पर झुड़ फुटौअल। हर नये और स्वाधीन विचार पर इनकी शनिश्चरी दृष्टि। देश भूखा मरे, स्त्री और अछूतों पर घोर अत्याचार हो, अनाथ मारे मारे फिरें, आर्य वंशज अरबी और मसीही सभ्यता पर निछावर हों, होते रहें—पर इनकी रूढ़ियों के विरुद्ध जो कुछ, सब म्लेच्छाचार। यह बिना प्रमाण के टस से मस नहीं होने के।

किन्तु दोनों ही दृष्टियों में दुराग्रह और पक्षपात का रोग है। दोनों दलों को ठीक निश्चय पर पहुंचाने के लिये स्वाधीनचेता और निर्भीक पथ-प्रदर्शकों और सच्चे समालोचकों की आवश्यकता थी-

"आलोचना के लिये निष्पक्ष हृदय और सुदूरवर्त्ती मस्तिष्क की आवश्यकता होती है। साम्प्रदायिक तथा एक देशी भावों को निष्पक्ष और सुदूरदृष्टि द्वारा देखने से ही मनुष्य ठीक निर्णय पर पहुंच सकता है-पक्षपात और दुराग्रह के कीड़ों द्वारा नष्ट किये हुये हृदयों में यह सामर्थ्य कदापि नहीं।"

हमारी इस पुस्तक के लेखक, भारत माता के सच्चे सपूत, महात्मा विवेकानन्द ऐसी ही श्रेणी के महापुरुषों में से हो चुके हैं—आपने अपने स्वतंत्र अनुशीलन द्वारा आर्य सभ्यता के अप्रतिम और गूढ़ रहस्यों का उद्घाटन कर, अमेरिका और यूरोप तक उसका झंडा फहराया—और पश्चिमी देशों में अनेक वर्षों तक भ्रमण कर उनकी बाह्याचार से भरी सभ्यता की तह तक पहुंचे और वास्तविकता का पता चलाया। इसी विषय पर बँगला भाषा में एक "प्राच्य और पाश्चात्य" पुस्तक लिखी; जो १५ वर्ष के समीप हुआ बँगला के "उद्बोधन" पत्र में क्रमशः प्रकाशित हुई थी। वर्त्तमान पुस्तक" मुरादाबाद निवासी पं० नरोत्तम व्यास जी से अनुवाद कराकर आगरे के साहित्य-रत्न-कार्यालय द्वारा हिन्दी संसार के सामने आ रही है।

स्वामी जी की गभीर मनस्विता-पूर्ण विचार-प्रसविनी चिन्ता-शील लेखनी से, संसार की प्राच्य और पाश्चात्य की वाह्य दृष्टि तथा उसका वास्तविक रहस्य, पूर्वी और पश्चिमी सभ्यताओं का मूलतत्व और उनका विकाश, सामाजिक संगठन और उनका श्रेणी विभाग, रूढ़ियों की उत्पत्ति तथा भारतोत्थान के कल्याण मार्ग का, पूर्ण पता चलता है-व्यास जी ने इस पुस्तक का हिन्दी अनुवाद करके बहुत बड़ा काम किया है, इसलिये वह अवश्य कृतज्ञता के पात्र हैं।

आगरा
मार्गशीर्ष शुक्ला २ सं० १९७५. } अध्यापक रामरत्न

विषय सूची ।

प्राच्य और पाश्चात्य।

वर्त्तमान भारत की वाह्य छवि।

"जनता के सामने हम अपने वर्त्तमान भारत का चित्र किस तरह अंकित करके रख सकते हैं?" इस बात पर विचार करते हुए, जब उस पर सरसरी नज़र डाली जाती है तो मालूम होता है कि—भारत एक अनुपम स्थान है—उस में अनेकों विपुल-सलिला तरंगमयी नदियां हैं, नदियों के तट पर नन्दन-कानन को निन्दित करने वाले अनेकों उपवन हैं; उनमें बहुत सी अपूर्व कारीगरी वाली रत्न-खचिता और मेघ-स्पर्शनी श्वेत अट्टालिकाएं हैं; सामने-आमने ऊंची ऊंची प्रकृति के हाथों से बनी हुई पक्की दीवारें हैं, कुटीर हैं, चारों ओर दुर्बलदेह, छिन्नवसन, युगयुगान्तर की निराशाओं से पूर्ण मुख वाले स्त्री-पुरुष, बालक-बालिकाओं का निवास है; बीच बीच में समधर्मी, समशरीर गाय, भैंस और बैल विचरण किया करते हैं; चारों ओर ही स्वच्छन्द विचरण के लिये मनोमुग्धकारी विस्तृत मैदान हैं; बस यही हमारा वर्त्तमान भारत है।

"अट्टालिकाओं के हृदय पर जीर्ण कुटीरें, देवालयों की गोदों में आलोक-स्तंभ, रेशमी और सुन्दर सुन्दर वस्त्रों के पहनने वालों के सहचर कौपीनधारी, षड्रस भोजी के चारों ओर भूख से व्याकुल ज्योतिहीन नेत्रों की दृष्टि"—यह हमारी जन्मभूमि है।

पाश्चात्य की दृष्टि में प्राच्य ।

"हैज़े का भीषण आक्रमण, महामारी का उपद्रव, मलेरिया का मानवदेह भक्षण, यहां के लोगों का भूखे या आधा पेट खाकर ही सन्तोष करलेना, बीच बीच में महाकाल रूप दुर्भिक्ष का महोत्सव, रोग शोक का कुरुक्षेत्र, आशा, उद्यम, आनन्द और उत्साह नाश से महा श्मशान, तिस पर भी ध्यानमग्न मोक्ष के अभिलाषी योगियों की तपश्चर्य्या",—यूरोपीय यात्रियों ने भारत में आकर यही देखा है ।

तीस करोड़ मानवरूपधारी जीव, सैकड़ों सदियों से स्वजाति और विजाति, स्वधर्म्मी और विधर्म्मी लोगों के अत्याचारों से पीड़ित प्राण, गुलामों जैसे परिश्रम को सहने वाले, दासों की भांति उद्यमहीन, आशाहीन, और भूत भविष्यत् की चिन्ता से विहीन, जिस तरह हो मर खप कर वर्त्तमान को विताने के अभिलाषी, दासोचित ईर्षापरायण, अपने आदमियों की उन्नति को न सहने वाले, हताश की भांति श्रद्धाहीन, विश्वासहीन; गीदड़ों के समान नीच चातुरी के आश्रयी, स्वार्थ-परता के आधार, बलवान् के चरण चाटने वाले, अपने से कमज़ोर के लिये यमस्वरूप, बलहीन, नैराश्य जैसे घृणित संस्कारों से पूर्ण, नीति-ज्ञान से अनभिज्ञ, दुर्गन्धयुक्त मांसखण्ड में भरे कीड़ों की भांति भारत शरीर में व्याप्त, अंग्रेज अधिकारियों की दृष्टि में हमारी छवि इस प्रकार है ।

प्राच्य की दृष्टि में पाश्चात्य ।

"नवीन बल के मधु-पान से मत्त, हिताहित-ज्ञान से शून्य, हिंसक-पशुओं की भांति भयानक, स्त्रियों के वश में रहने वाले, कामी, सुरा-सेवी, आचारहीन, शौचहीन, जड़वादी, जड़ सहाय, छल, बल और कौशल से परायेदेश, पराये धन, का हरण करने वाले,

परलोक में विश्वासहीन, देहात्मवादी, शरीर के पोषण को ही जीवन समझने वाले"—भारतवासियों की दृष्टि में यूरोपीय असुर हैं।

यह तो हुई दोनों पक्ष की बहिर्दृष्टि। यूरोपीय, विदेशी सुशीतल, स्वच्छ पक्के मकानों वाले नगरों के हिस्सों में रहते हैं, हमारे नेटिव-मुहल्लों की, अपने देश के स्वच्छ और शीतल शहरों के साथ तुलना करते हैं। भारतवासियों का जो संसर्ग उनसे होता है, वे केवल एक दल के लोग हैं—जो साहबों की नौकरी करते हैं। और दुःख, दारिद्र्य तो वास्तव में भारतवर्ष के समान पृथ्वी में और कहीं नहीं। मैला और कूड़ा कर्कट चारों ओर ही पड़ा रहता है। यूरोपीय-दृष्टि में इस मैले, इस गुलामी और इस नीचता के बीच में जो कुछ अच्छा भी है, वह विश्वास योग्य नहीं।

हम देखते हैं कि—भारतियों को नीच समझने वाले लोग, शौच नहीं करते, आचमन नहीं करते, खाद्य; अखाद्य सभी खाये सिद्ध, न छूत-छात का विचार करते हैं, केवल दिन रात शराब पीकर स्त्रियों के साथ थेई थेई किया करते हैं। अब सोचो इस जाति में क्या अच्छा है!

दोनों दृष्टि ही बाहर की दृष्टि हैं, भीतर की बात कोई नहीं जानता। हम विदेशी को म्लेच्छ कहते हैं, वे हमें Black man और गुलाम कहते हैं—हमसे घृणा करते हैं।

इन दोनों दृष्टियों में कुछ न कुछ अवश्य सत्य है, किन्तु दोनों दलों में ही भीतर की असली चीज़ देखने की क्षमता नहीं।

प्रत्येक जाति के जीवनोद्देश्य विभिन्न हैं।

प्रत्येक मनुष्य में एक प्रकार का भाव हुआ करता है; बाहर का मनुष्य उस भाव का बहिःप्रकाश मात्र है। उसी प्रकार प्रत्येक

जाति का एक जातीय भाव है। यह भाव जगत् का कार्य्य करता है जो संसार की स्थिति के लिये भी आवश्यक है। जिस दिन वह आवश्यकता पूरी हो जायगी उसी दिन उस जाति वा व्यक्ति का नाश हो जायगा। हम भारतवासी लोग जो इतना दुःख, दारिद्र्य, घर और बाहर का उत्पात सह कर भी अब तक बचे हुए हैं, उस का मतलब यह है कि–हमारा एक जातीय-भाव है जो जगत् के लिये अब भी आवश्यक है। यूरोपीय लोगों का भी हमारी भांति एक प्रकार का जातीय-भाव है, जिसके न होने पर उनका संसार नहीं चल सकता। इसी से वे प्रबल हैं। एकदम निर्बल हो जाने पर क्या मनुष्य जीवित रह सकता है? जाति, व्यक्तियों की समष्टि मात्र है; एक बार निर्बल निष्कर्म्मी हो जाने पर क्या जाति बच सकती है? हज़ारों वर्षों के अनेक प्रकार के हंगामों से भी हिन्दू जाति क्यों नहीं मरी? हमारी नीति रीति यदि इतनी ख़राब है तो हम इतने दिनों तक जीवित क्यों रहे? क्या विदेशी विजेताओं की चेष्टाओं ने कुछ त्रुटि की? तब भी समस्त हिन्दू मरकर लोप क्यों न हुए!—जैसा कि अन्यान्य असभ्य देशों में हुआ। भारत का देश जन-मानव हीन क्यों न होगया? उस समय भी तो विदेशी लोग यहां पर रहा करते थे, जैसा अमेरिका, आस्ट्रेलिया और अफ्रीका में हुआ और होता है? अतः हे विदेशी मित्रों, तुम अपने को जितना बलवान् समझते हो वह कल्पना है, भारत में भी बल है, माल है, यह खूब याद रक्खो। और यह भी अच्छी तरह याद रक्खो कि अब भी हमारे जगत् के सभ्यता-भांडार में कुछ न कुछ देने के लिये है, इसी से हम बचे हुए हैं। यह तुम भी अच्छी तरह जानते हो—जो अन्दर बाहर दोनों ओर साहबी साज से सजे रहते हैं, और "हम-नर पशु हैं, हे यूरोपीय, तुम लोग हमारा उद्धार करो" यह कह कर रोते फिरते हैं और "यीशु आकर भारत में रहेंगे कहकर" हल्ला [illegible] करते हैं। उन से

हमारा निवेदन है कि- भाई न यीशु आवेंगे और न जिहोवा ही, वे अब अपना घर सम्हालते हैं, हमारे देश में आने का उन्हें अवकाश नहीं। इस देश में तो वही बूढ़ा शिव रहेगा, वही काली बलि ग्रहण करेगी और वही वंशीधारी वंशी बजावेंगे। हमारा वह बूढ़ा शिव सांड पर चढ़ता है और भारत ही में घूमता फिरता है; वह एक ओर सुमात्रा, बोर्नियो, सेलिविस, जावा आष्ट्रेलिया और अमेरिका के किनारे तक डमरू बजाकर एक समय घूमा था और दूसरी ओर तिब्बत, चीन जापान, साइबेरिया तक फिरता था और अब भी फिरता है। यह जो मां काली है, उसने चीन जापान तक पूजा पायी थी। आजकल उसे ही यीशु की मां मेरी (मरियम) मानकर ईसाई लोग पूजते हैं । यह जो हिमालय पहाड़ देख पड़ता है, उसके उत्तर में कैलाश है, वह बूढ़े शिव का प्रधान अड्डा है। उस कैलाश को दश शिर और बीस हाथ का रावण भी नहीं उठा सका था. वह क्या इस समय पादरियों का काम है ? वह बूढ़ा शिव डमरू बजावेगा, मां काली बलि लेवेगी और कृष्ण वंशी बजावेगा,-लेकिन ये सब होगा यहीं। यदि ये बातें आपको ना पसन्द हों तो कहीं अन्यत्र चले जाओ। तुम जैसे दो चार आदमियों के लिये देशभर के तमाम लोग अपना मत नहीं पलटेंगे; जाओ आनन्द की जगह जाओ, दुनिया तो इतनी बड़ी है, सो नहीं! साहस ही कहां है ? इस बूढ़े शिव का अन्न खावेंगे और यीशु की जय मनावेंगे—कैसा आश्चर्य्य है ! यह जो आप लोग साहबों के निकट नाक रगड़ कर रोते हो कि "हम अति नीच हैं, अति अपदार्थ हैं, हमारा सभी कुछ खराब है " यह बात ठीक हो सकती है-तुम अवश्य सत्यवादी हो, लेकिन इस हमारे के भीतर देश भर को क्यों फांसते हो ? यह कौन सी भद्रता है मित्रो ?

पहले यह बात खूब समझ लेनी चाहिये कि-ऐसा कोई भी गुण नहीं जिस पर किसी जाति विशेष का अधिकार हो। हां यह बात हो सकती है कि-वह गुण जिस प्रकार किसी व्यक्ति में हैं उसी प्रकार किसी किसी जाति में भी उसका आधिक्य वा प्राधान्य होता है।

प्राच्य का उद्देश्य मुक्ति और पाश्चात्य का धर्म है।

हमारे देश में मोक्ष की इच्छा का प्राधान्य है और पाश्चात्य में धर्म्म का प्राधान्य है। हम क्या चाहते हैं-मुक्ति। वे क्या चाहते हैं-धर्म्म। धर्म्म, मीमांसकों के मत में व्यवहृत होता है। धर्म क्या है? जो इस लोक वा परलोक में सुख भोग की प्रवृत्ति दे। धर्म्म होता है क्रिया का मूल। धर्म मनुष्य को दिन रात सुख की खोज कराता है, सुख के लिये परिश्रम कराता है।

मोक्ष क्या है? जो यह सिखाती है कि-इस लोक का सुख भी गुलामी है और परलोक का सुख भी गुलामी है, इस प्रकृति के नियम के बाहर तो यह लोक भी नहीं और परलोक भी नहीं। लेकिन उपरोक्त दोनों गुलामियों में फ़र्क़ इतना ही है कि—जितना लोहे की बेड़ी और सोने की बेड़ी में है। इस के बाद प्रकृति के भीतर होने के कारण विनाश-शील वह सुख चिर-काल तक नहीं रहता। अतएव मुक्त होना ही पड़ेगा, प्रकृति के बन्धन के बाहर जाना ही होगा, शरीर के बन्धन तोड़ने ही पड़ेंगे, दासत्व से काम चलना असम्भव है। यह मोक्षमार्ग केवल भारत ही में है अन्यत्र नहीं। इसलिये यह जो चारों ओर सुन पड़ता है कि-मुक्त पुरुष भारत में ही हैं अन्यत्र नहीं, सो ठीक है। लेकिन बाद को अन्यत्र भी हो जावेंगे। यह तो आनन्द की बात है। एक समय इस भारतवर्ष में धर्म्म और मोक्ष का सामञ्जस्य था। उस समय युधिष्ठिर, अर्जुन, दुर्योधन, भीष्म और कर्ण आदि के साथ

साथ व्यास, शुक और जनकादि भी वर्त्तमान थे। बौद्धों के बाद से धर्म एकदम बेइज़्ज़त हो गया, खाली मोक्षमार्ग ही प्रधान समझा जाने लगा। इसी से अग्निपुराण में रूपक मिस से कहा है कि–गयासुर (बुद्ध) ने सब को मोक्षमार्ग दिखा कर जगत के नाश करने का उपक्रम किया था, इसी से देवताओं ने आकर छल के साथ उसे चिरकाल के लिये शान्त कर दिया था। सारांश कि यह जो देश की दुर्गति की बात चारों ओर सुन पड़ती है, वह धर्म का अभाव है। यदि देश भर के लोग मोक्षका अनुशीलन करें, तो करने दो, बड़ी अच्छी बात है। लेकिन ऐसा होता तो नहीं, विना भोग के त्याग नहीं होता, पहिले भोग करो फिर त्याग होगा। न होने पर, अनर्थक देश भर के लोग साधु हुए तो न वे इधर के हैं न उधर के हैं। जब बौद्ध राज्य में एक एक मठ में एक एक लाख साधु रहता था, तभी से देश ठीक विनाश गर्त्त के मुख में जा पड़ा। बौद्ध, कृश्चियन, मुसलमान, जैन इन को एक भ्रम है, वह यह कि–ईश्वर के लिये सब एक से हैं उसका बनाया नियम सब के लिये एक ही है, एक आईन एक ही नियम संसार भर का शासन कर सकता है यह बड़ी भूल है। जाति, व्यक्ति की प्रकृति-भेद से शिक्षा, व्यवहार और नियम सभी अलहदा हैं, ज़बर्दस्ती से एक करने से क्या होगा? बौद्धों ने कहा–"मोक्ष की भांति कोई चीज़ नहीं, दुनियां भर को मोक्ष लेना चाहिये,"–ऐसा कभी पहिले भी हुआ है? "तुम गृहस्थ हो, तुम्हें इन सब बातों की विशेष आवश्यकता नहीं, तुम अपना अपना धर्म्म करो।" यह बात कही हिन्दु शास्त्रों ने। ठीक बात यही है। 'एक हाथ कूद नहीं सकते, लंका पार करेंगे।' दो मनुष्यों को अन्न खिला ही नहीं सकते, दो लोगों के साथ एक बुद्धि होकर एक साधारण हितकर-कार्य्य कर ही नहीं सकते, पर मोक्ष के पीछे दौड़ते हैं?? हिन्दुशास्त्र कहते हैं कि–"धर्म की अपेक्षा 'मोक्ष' अवश्य बहुत बड़ी चीज़ है,–किन्तु

पहले धर्म्म ही करना चाहिये। इस बात पर ही बौद्धों ने उत्पातों का सूत्रपात्र किया, अहिंसा बड़ी अच्छी चीज़ है, निर्वैर होना बहुत सुन्दर बात है-बात सब अच्छी हैं, लेकिन शास्त्र ने क्या कहा?—कहा कि—तुम गृहस्थ हो, तुम्हारे गाल पर यदि कोई एक थप्पड़ मारे, तो उस के गाल पर यदि दस थप्पड़ न मारो तो तुम्हें पाप होगा। "आततायिनं उद्यन्तम्" इत्यादि, हत्या करने के लिये आने वाले ब्राह्मण के मारने में भी पाप नहीं। बात सच है, भूल जाने की नहीं। वीरभोग्या बसुन्धरा है। वीर्य्य प्रकाश करो, साम, दान, दण्ड, और भेद आदि दण्ड-नीति का प्रकाश करो, पृथ्वी का भोग करो—तब तुम धार्म्मिक हो। और लात घूंसे खाकर चुप रह जाने से घृणित कहाओगे। घृणित जीवन-यापन करने से इस लोक में भी नरक भोग और पर लोक में भी ख़्वारी। यह शास्त्र का मत है, सत्य और परम सत्य है, अतः धर्म्म करो, अन्याय मत करो, अत्याचार मत करो और यथा साध्य परोपकार करो। किन्तु अन्याय का सहन करना पाप है—खासकर गृहस्थ के लिये। उसी समय उसके प्रति-विधान की चेष्टा करनी चाहिये। महा उत्साह से, धनोपार्ज्जन करो और उसे परिवार के दश आदमियों का पालन, देश-हितकर कामों का अनुष्ठान करना चाहिये। ऐसा न करने पर तुम मनुष्य नहीं-गृहस्थ नहीं,-तिस पर भी "मोक्ष"!!

पहले ही कह आये हैं कि-धर्म्म क्रिया मूलक होता है एवं धार्म्मिकता का लक्षण सदा कार्य्यशीलता होता है। यही नहीं, अनेक मीमांसकों के मत में वेद में जिस स्थान पर कर्म्म करने की आज्ञा नहीं वह स्थान भी वेद नहीं कहा सकता।-'आम्नायस्य क्रियार्थत्वात् आनर्थक्यं अतदर्थानां" जैमिनि सूत्र।-"ओंकार ध्याने सर्वार्थसिद्धिः," "स्मरणमात्रेण पापनाशः" "शरणागतानां सर्वाप्ति," ये सब शास्त्र

वाक्य-साधु वाक्य अवश्य सत्य हैं; किन्तु देखा जाता है कि-लाखों लोग ओंकार जपते जपते मर गये, राम नाम से मतवाले हो गये, दिन रात "ईश्वरेच्छा बलीयसी" कहते रहते हैं, और पाते क्या हैं?-ठहपूसे। उपरोक्त वाक्यों का असली मतलब यही है कि उसी का जप यथार्थ है, उसी के मुख से निकला ईश नाम अमोघ है, यथार्थ शरण वही ले सकता है, जिसकी कर्म करने से चित्त शुद्धि हो गयी है अर्थात् जो 'धार्मिक' है।

प्रत्येक जीव-शक्ति प्रकाश का एक एक केन्द्र है। पूर्व के कर्म्म फलों से वह शक्ति संचित हुई है, हम उसे ही लेकर पैदा हुए हैं। जब तक वह शक्ति कार्य्य रूप में प्रकाशित नहीं होगी, तब तक कौन स्थिर रह सकता है? तब तक कौन सा व्यक्ति भोगों की समाप्ति कर सकता है? लेकिन दुःख भोग की अपेक्षा सुख भोग अच्छा है।

मुक्ति काम और धर्म के आदर्श की भिन्नता।

अब अच्छा क्या है? 'मुक्ति-काम की श्रेष्ठता अन्य प्रकार की है और धर्म्म काम की श्रेष्ठता दूसरी तरह की, इसे गीता गायक भगवान् कृष्ण ने इस तरह से समझाया है कि इस महा सत्य के ऊपर ही हिन्दुओं का स्वधर्म्म और जातिधर्म्म अधिष्ठित है।" निर्वैरः सर्व भूतानां मैत्रः करुण एवच" इत्यादि भगवद्वाक्य मोक्ष काम के लिये हैं। और "क्लैव्यंमास्मगमः पार्थ" "तस्मा त्वमुत्तिष्ठ यशोलभस्व," इत्यादि धर्म काम के लिये हैं। यह ठीक है कि-कर्म्म करने में कुछ न कुछ पाप अवश्य होगा। हो, उपवास की अपेक्षा आधा पेट खाना क्या अच्छा नहीं है? कुछ न करने की अपेक्षा, जड़ की अपेक्षा भला बुरा मिला काम करना क्या ठीक नहीं? पशु झूठ नहीं बोलते, दीवारें चोरी नहीं करतीं, तब भी वे पशु के पशु

और दीवार की दीवार ही रहती हैं। मनुष्य चोरी करता है, झूठ बोलता है, तिस पर भी वह देवता बन जाता है। सत्वप्रधान अवस्था में मनुष्य निष्क्रिय होता है, परम ध्यानावस्था को प्राप्त होता है, रजप्रधान में भली बुरी क्रिया करता है और तमप्रधान में फिर निष्क्रिय जड़ हो जाता है। इस समय हम बाहरी अवस्था में हैं-अब बताओ यह सत्व प्रधान अवस्था है या तम-प्रधान। यह किस तरह से समझें ?

अब हम सुख दुःख के पार क्रियाहीन शान्तरूप स्वत्व अवस्था में हैं—"कि प्राणहीन, जड़प्राय, शक्ति के अभाव से क्रियाहीन महा तामसिक अवस्था में पड़े धीरे धीरे और चुप चाप अपने जीवन को गला रहे हैं इस बात का जवाब दो-अपने मन से पूछो। क्या जवाब है ?- "फलेन परिचीयते" ही न ? सत्व प्रधान में मनुष्य निष्क्रिय होता है, शान्त होता है, किन्तु वह निष्क्रियता महाशक्ति के केन्द्रीभूत होकर रहती है, वह शान्ति महावीर्य्य की जननी है। उसके निवासी उस महापुरुष को फिर हमारी भांति हाथ पैर हिला कर काम नहीं करना पड़ता-उसकी इच्छा मात्र से ही सब काम अनायास सम्पन्न हो जाते हैं। वह पुरुष ही सत्वगुण प्रधान ब्राह्मण है, सर्वलोक पूज्य है; उसे फिर यह कहते हुए-"मेरी पूजा करो" गली कूंचे नहीं फिरना पड़ता। जगदम्बा उसके कपाल-फलक पर अपने हाथों से लिख देती है कि इस महापुरुष की सभी लोग पूजा करें और इसकी आज्ञा को तमाम संसार अवनत मस्तक से स्वीकार करे। वही महापुरुष-"निर्वैरः सर्व भूतानां मैत्रः करुण एव च" है। और यह जो मिनमिने पिनपिने मुंह चला चला कर बातें करते फिरते हैं, दुबले पतले रातदिन भूखों की भांति मरी आवाज़, बिना सात थप्पड़ खाये बात न कहने वाले आदमी ही तमोगुणी होते हैं, उपरोक्त लक्षण उनकी मृत्यु के लक्षण हैं, वे

सत्वगुण नहीं हैं वरन् गली सड़ी गन्ध है। अर्जुन के इस दल में जा पड़ने से ही तो भगवान ने उसके साथ इतनी मगज़पच्ची की। पहले भगवान के मुंह से क्या बात निकली–'क्लैव्यं मास्म गमः पार्थ–"और अन्त में ?–"तस्मात्वमुत्तिष्ठ यशोलभस्व ?' इन बौद्ध जैनआदि के पल्ले पड़ जाने से ही तो हम इस तमोगुणी दल में जा पड़े–हम ही क्या देश भर पड़ा पड़ा आखिरी श्वास ले रहा है, भगवान को पुकार रहा है, पर भगवान नहीं सुनते। इस बात को आज हजार वर्ष बीत गये। सुनें किस तरह, अहमकों की बात कोई भी सुनता है ? भगवान तो दूर रहते हैं। अब क्या उपाय है—भगवान का यह वाक्य सुनाना, कि–"क्लैव्यं मास्म गमः पार्थ," "तस्मात्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व।" इसी से जगत् का कल्याण होगा।

पाश्चात्य जाति कृष्ण और प्राच्य जाति यीशु के उपदेशानुसार चलती है।

अब चली प्राच्य और पाश्चात्य की बात। पहले एक तमाशा देखलो, यूरोपियों के प्रभु यीशु ने उपदेश दिया—"निर्वैर होओ; एक गाल पर थप्पड़ खाने पर दूसरा भी मारने वाले के सामने कर दो; काम-काज बन्द करो; गठरी-मुठरी बांध लो; मैं फिर आता हूं, दुनियां इन दो चार दिन के भीतर भीतर ही नष्ट हो जायगी।" और हमारे प्रभु ने क्या कहा–"महा उत्साह से काम करो, शत्रु-नाश करो और दुनिया का भोग करो।" किन्तु–'उल्टे समझे सैयां हमारे' का किस्सा हुआ। यूरोपियों ने यीशु के उपदेश ग्रहण नहीं किया। वे महा रजोगुणी, महा कार्य्यशील, महा उत्साह से देश देशान्तरों का भोग-सुख आकर्षण कर के भोगते हैं। और हम कोने में बैठे, गठरी-मुठरी बांधे, दिन रात मृत्यु का चिन्तन करते रहते हैं एवं "नलनी दल गत जलमति तरलं तदज्जीवन-मति

शय चपलम्" गाते रहते हैं; और यही नहीं यम के डर से हाथ पांव पेट में दिये बैठे रहते हैं। अभागे यम ने भी उसी कौशल का अवलम्बन कर लिया—वह यमालय में बैठा २ नित्य नये २ रोग हमारे देश में भेजता रहता है। गीता का उपदेश सुना किसने—यूरोपियों ने, और यीशु क्राइष्ट की इच्छानुसार काम कौन करता है—कृष्ण के वंशधर !! यह बात समझने की है। मोक्ष-मार्ग का तो पहले वेद ही ने उपदेश दिया था। इस के बाद चाहे बुद्ध ने कहा या यीशु ने कहा, लिया उन्होंने यहीं से। अच्छा, वे तो सन्यासी थे, "निर्वैरः सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च" यह बड़ा अच्छा उपदेश है, उत्तम बात है। लेकिन ज़बर्दस्ती दुनियां भर को उस मार्ग पर ले जाने की यह चेष्टा कैसी? क्या घिस मांज कर रूप और मार पीट कर प्रीति पैदा होती है? जो मनुष्य मोक्ष नहीं चाहता, पाने के योग्य भी नहीं, उस के लिये बुद्ध या यीशु ने क्या उपदेश दिया—कुछ भी नहीं। 'जहां तक हो मोक्ष पाने का उद्योग करो' 'नहीं तुम्हारा नाश हो जायगा' ये ही दो बातें हैं। मोक्ष को छोड़ कर जो कुछ चेष्टा करोगे, उन के रास्ते बन्द हैं। अगर तुम दुनिया का भोग करोगे तो उस का भी कोई मार्ग नहीं, वरन् प्रत्येक पद पर बाधाएं हैं। केवल वैदिक-धर्म्म में इस चतुर्वर्ग की प्राप्ति का उपाय है; 'धर्म, अर्थ काम और मोक्ष' वैदिक-मत में ही मिल सकते हैं। बुद्ध ने तो किया हमारा सर्वनाश, और यीशु ने किया रोम तथा ग्रीस का सर्वनाश !! इस के बाद, भाग्यबल से ही यूरोपीय Protestant हो गये, उन्होंने ईसाई धर्म्म को दूर रख दिया। इधर भारतवर्ष में कुमारिल ने फिर कर्म्म मार्ग चलाया, शङ्कर और रामानुज ने चतुर्वर्ग के समन्वयरूप वैदिक-मत को फिर प्रवर्त्तित किया। देश के बचने का उपाय अब फिर हुआ। लेकिन भारतवर्ष में ३० करोड़ लोग हैं, सुधरने में देर की आवश्यकता है। ३० करोड़ लोगों को क्या एक दिन में चेतना होती है?

बौद्ध-धर्म्म और वैदिक-धर्म्म का उद्देश्य एक है लेकिन बौद्ध-धर्म्म के उपाय ठीक नहीं। उपाय यदि ठीक होते तो हमारा यह सर्व-नाश ही क्यों होता? 'समय के कारण से हुआ'-कहने से काम नहीं चलेगा, समय क्या कार्य्य कारण सम्बन्ध को छोड़ कर काम कर सकता है?

अतएव उद्देश्य एक होने पर भी उपाय हीनता से बौद्धों ने भारतवर्ष को पतित किया बौद्ध मित्र नाराज़ हो जावेंगे तो हों, घर का नाज ज़रा ज्यादा खा जावेंगे। बात सत्य कहनी चाहिये। उपाय होता है वैदिकों के जैसा,-"जाति-धर्म्म" "स्वधर्म" वैदिक-धर्म के-वैदिक समाज-के भित्ति स्वरूप हैं। फिर, कुछ मित्र नाराज़ हो जावेंगे, और कहेंगे कि यह इस देश के लोगों की खुशामद है। तो उन्हें पहले हमारी एक बात याद रखनी चाहिये,-देश के लोगों की खुशामद करने से हमें लाभ ही क्या! देश के लोग हमारा पालन तो कर ही नहीं रहे, हम तो भीख मांगते हैं, यहां न मांगी और जगह मांग ली, फिर ये तो अपने घर के ही लोग हैं, इन की खुशा-मद करने से क्या फ़ायदा! अस्तु। यह जाति धर्म और स्वधर्म्म ही सब देशों में सामाजिक कल्याण का उपाय और मुक्ति का सोपान माना जाता है। इस जातिधर्म्म और स्वधर्म्म का नाश के साथ ही साथ देश का अधःपतन होता है। लेकिन अपने को वैदिक मार्ग द्रष्टा बताने वाले श्री स्वामी कृपानन्द जिस बात को जाति धर्म्म और स्वधर्म्म मानते हैं, वह केवल उत्पात मात्र है, वे आचार वि-चारों को उन्नति का मूल नहीं मानते, वे गधे को पढ़ा कर घोड़ा बना डालने की बात को सनातन पद्धति मानते हैं। हमारे इस कथन का यह मतलब नहीं-गुणगत जाति ही श्रेष्ठ है, हम तो वंश-गत जाति को ही जाति मानते हैं। यह ठीक है कि-गुणगत जाति ही-आदि है, किन्तु वंश परम्परा से चले आये गुण संस्कार भर में

दो एक मनुष्यों में ही मिलेंगे। उस असल स्थान पर आघात पड़ने से ही तो हमारा सर्वनाश हुआ। "संकरस्यच कर्त्ता स्या मुपहन्या मिमाः प्रजाः।" किस तरह वर्ण-सांकर्य्य पैदा हुआ, सफेद रंग वाला क्यों हुआ। सत्वगुण, रजो गुण-प्रधान, तमोगुण में क्यों जा पड़ा-ये बातें आगे कहेंगे। आततः यह समझ लेना चाहिये कि-जाति धर्म्म यदि ठीक ठीक रहेगा तो देश का अधःपतन कभी नहीं हो सकता। यह बात यदि सत्य है तो हमारा सर्वनाश क्यों हुआ? अवश्य जातिधर्म का नाश हुआ है। इसलिये तुम जिसे जातिधर्म माने हुए हो वह असली जातिधर्म्म से एक दम उलटा है। पहले पुराणों को उठा कर देखो, मालूम होगा-शास्त्रों में जिसे जाति धर्म्म कहा है वह प्रायः सर्वत्र लोप हो गया। इस के बाद अब फिर, किसी तरह उस का समावर्त्तन हो, इस की चेष्टा करो-परम कल्याण निश्चित है।

जातीय-जीवन की मूल भित्ति पर आघात होने से ही विप्लव वा जातीय-मृत्यु अवश्यम्भावी है।

पहले कह दिया है—कि प्रत्येक जाति का एक उद्देश्य है। प्राकृतिक नियम के आधीन वा महापुरुषों के प्रतिभा-बल से ही प्रत्येक जाति की सामाजिक रीति नीति उस उद्देश्य को सफल करने के उपयोगी होती है। प्रत्येक जाति के जीवन में इस उद्देश्य और तदुपयोगी उपाय रूप आचार के अलावा अन्यान्य रीति-नीतियां वृक्षगत ऊपरी भाग हैं। इस ऊपरी भाग की रीति-नीतियों की ह्रास वृद्धि में अधिक कमी वेशी नहीं होती, किन्तु यदि उस असल उद्देश्य में आघात लग जाय तो तत्काल ही उसी जाति का नाश हो जाता है।

बचपन में हम ने एक कहानी में सुना था कि किसी देव के प्राण एक पक्षी के भीतर थे, बिना उस पक्षी के मरे वह नहीं मर

सका । यहां भी वही बात है । जो अधिकार जातीय जीवन के लिये अत्यावश्यक नहीं हैं, वे नष्ट हो जांय या सदैव के लिये रहें, जाति उस में कुछ भी आपत्ति नहीं करेगी, किन्तु, जब यथार्थ जातीय जीवन में चोट पहुंचेगी तो तत्क्षण उस में महा उथल पुथल मच उठेगी ।

फ्रेञ्च अंग्रेज् और हिन्दुओं के दृष्टान्त के द्वारा उक्त तत्व का समर्थन ।

अब वर्त्तमान तीन जातियों की तुलना कीजिए, जिनका इतिहास आप लोग थोड़ा बहुत जानते हैं,—फ्रांसीसी अंग्रेज़ और हिंदू। राजनैतिक स्वाधीनता फ्रांसीसी जाति-चरित्र का मेरुदण्ड है। वे लोग समस्त अत्याचारों को निःसंकोच सह लेंगे, उन्हें भले ही कोई चुटकी से मसल दे, चूं भी नहीं करेंगे, देश भर को ज़बरदस्ती रँगरूटों में भर्ती कर लो, कुछ आपत्ति नहीं, किन्तु जब कोई उस स्वाधीनता पर हाथ डालेगा, तत्क्षणात् समस्त जाति पागलों की भांति मरने मारने को तैयार हो जायगी । कोई किसी के ऊपर बलात्कार नहीं कर सकता यही फ्रांसीसी चरित्र का मूल मन्त्र है। 'ज्ञानी, मूर्ख, धनी, दरिद्र, उच्चवंश, नीचवंश, हर एक राज्य शासन में, सामाजिक स्वाधीनता में, हमारे समान अधिकार रखता है।' इस के विरुद्ध आचरण करने वाले का कहीं ठिकाना नहीं!

अंग्रेज चरित्र में, व्यवसाय बुद्धि और आदान, प्रदान, प्रधान, हैं एवं यथाभाग न्याय विभाग अंग्रेजों की मुख्य बात है। राजा होना कुलीन जाति के अधिकार में है यह अंगरेज़ निःसंकोच मान लेते हैं, पर पास से पैसा ख़र्च करने पर भी उसका हिसाब मांगते हैं। आप राजा हैं बड़ी अच्छी बात है--हम आपका मान करेंगे, किन्तु यदि रुपया मांगोगे तो उसका कार्य-कारण बताना पड़ेगा, खाते में

उसका उल्लेख होने पर ही दिया जायगा। ज़बरदस्ती राजा रुपया खर्च नहीं कर सकता, करने पर महा आफ़त आ सकती है।

हिन्दु क्या कहते हैं,—राजनैतिक और सामाजिक स्वाधीनता अच्छी बात है, किन्तु असली चीज़ पारमार्थिक स्वाधीनता है—मुक्ति है। यही जातीय उद्देश्य है, वैदिक, जैन, बौद्ध, अद्वैत, विशिष्टाद्वैत वा द्वैत चाहे कोई हो, यहां पर सब एक मत हैं। यहां कोई भी हाथ मत डालो, डालने से सर्वनाश उपस्थित है, अलावा इस के और जो कुछ चाहो कर सकते हो हम चुप चाप सह लेंगे। लात मार लो, लाठी मार लो यहां तक कि सर्वस्व छीन लो, कुछ नहीं कहेंगे, पर इस सूत्र से सदा अलग रहो। प्रमाण स्वरूप देख लो पठानवंश आया और चला गया, कोई भी शाह स्थिर हो कर राज्य न कर सका। कारण, उन्होंने इस हिन्दू धर्म पर क्रमागत आघात किया। और मुग़लराज्य कैसा सुदृढ़ रहा, कितना बली बन गया। क्यों? उन्होंने इस मर्म-स्थान पर कोई आघात नहीं किया। हिन्दु ही मुगल-सिंहासन की भित्ति थे, जहांगीर, शाहजहां, दाराशिकोह आदि, इन सब की मां हिन्दु—कन्या थीं। और देखो, जब औरङ्गजेब ने फिर वहां आघात किया तो तत्काल ही इतना बड़ा मुग़ल राज्य स्वप्न की भांति उड़ गया। यह जो अंग्रेजों का सुदृढ़ सिंहासन है, वह किस के ऊपर है? ये लोग किसी के धर्म्म पर ज़बर्दस्ती हाथ नहीं डालते। यह सच है कि—हमारे पादरी-पुंगव महाशय थोड़ी थोड़ी वैसी चेष्टा करते रहते हैं और उन्होंने ही सन् ५७ का ग़दर पैदा किया। जब तक अङ्गरेज लोग भी हमारे इस मर्मस्थान पर हाथ नहीं डालते तभी तक उनका तख्तो ताज अचल है। डालने पर फिर महाविप्लव। विज्ञ बहुदर्शी अङ्गरेज भी यह बात अच्छी तरह समझते हैं। लार्ड राबर्टस की Story one year in India का ३० और ३१ वां अध्याय देखो।

अब तो अच्छी तरह समझ में आ गया होगा कि देव के प्राण कौनसे पक्षी में हैं, धर्म ही में है न? उसका ही नाश किसी के न कर सकने पर जाति ने सब के अत्याचार सहे और अब भी वह सब जातियों से परिमाणमें अधिक है। हमसे एक पण्डित ने एक जगह प्रश्न किया कि वहां पर प्राण रखने की इतनी आवश्यकता क्यों समझी गयी? सामाजिक वा राजनैतिक स्वाधीनता में ही उसे क्यों नहीं रखते? जैसा कि अन्यान्य देशों में है। बात तो सीधी सी है; यदि तर्कों द्वारा स्वीकार कर लिया जाय कि धर्म-कर्म सभी मिथ्या हैं, तो फल क्या निकलेगा? देखो तो— अग्नि तो एक ही है, लेकिन प्रकाश भिन्न भिन्न हैं। वह एक महाशक्ति ही फ्रांसीसियों में राजनैतिक स्वाधीनता, अंग्रेजोंमें वाणिज्य सुविचार का विस्तार और हिन्दुओं के प्राणों में मुक्ति लाभ की इच्छा के रूप में विकशित हो रही है। इस महाशक्ति की प्रेरणा से कितनी एक शताब्दियों में अनेक सुख दुःखों के भीतर होकर फ्रांसीसी वा अङ्गरेज़ चरित्र जड़ पकड़ गया और उसी की प्रेरणा से लाखों शताब्दियों के आवर्त्तन में हिन्दुओं के जातीय चरित्र का निरन्तर विकास होता रहा है। अब कहिये, हमारा लाखों वर्ष का स्वभाव सरल है या तुम विदेशी लोगों का दो चार सौ साल का स्वभाव सीधा है? यदि सीधा है, सरल है, तो अङ्गरेज धर्म्म-प्राण क्यों न हुए? मारा-मार काटा-काट को भूल कर शान्त और शिष्ट होकर क्यों न बैठे?

असली बात तो यह है कि जब एक नदी पहाड़ से एक हज़ार मील की दूरी पर चली आयी तब वह फिर किस तरह अपने स्थान को लौट सकती है? अगर कोई वहां पहुंचाने की चेष्टा भी करे तो सिवा इसके कि वह इधर उधर फैल कर नष्ट हो जाय और कुछ नहीं होगा।

धर्म के बिना और किसी से भारत का जातीय-जीवन प्रतिष्ठित होना असम्भव है।

उपरोक्त नदी जिस तरह होगा समुद्र में जावेगी ही; दो दिन बाद गई या दो दिन पहले, गई तो, अच्छी जगहों से होकर या बुरी जगहों से होकर—जायगी अवश्य। यदि यह दश हज़ार साल का जातीय-जीवन, भूल कर इधर उधर भटकने लगा है तो कुछ दिनों में अपने गन्तव्य-पथ पर पहुँच जायगा; यदि कोई चाहे कि किसी नूतन चरित्र में उसे ढाल दें, तो सिवा इसके कि, वह एक दम नष्ट हो जाय और कुछ फल नहीं!

लेकिन ऊपर कही हुई बातें छोटी बुद्धि की उपज हैं—विद्वान्-लोग क्षमा करें, हम अल्पदर्शी व्यक्ति हैं। कुछ समय भ्रमण करो और अनेक देशों की अवस्था का अच्छी तरह अवलोकन करो, अपनी आंखों से देखना—दूसरों की आंखों से नहीं, इसके बाद यदि मस्तिष्क हो—विचार करो, अनन्तर अपनी पौराणिक पोथियों को पढ़ो। भारत के देश देशान्तरों में भ्रमण करो- बुद्धिमान् पण्डितों की दृष्टि से देखो। गँवार, अहमकों की दृष्टि से नहीं, मालूम होगा कि जाति अपने पहले ही रूप में है, परन्तु प्राण धक् धक् कर रहे हैं और उसके ऊपर धूल पड़ी हुई है। और भी देखोगे कि, इस देश का प्राण धर्म है, भाषा धर्म है और भाव भी धर्म है;—एवं तुम्हारी राजनीति, समाज नीति परिच्छिन्नता, प्लेग निवारण, दुर्भिक्षपीड़ित को अन्नदान आदि चिरकाल तक जो कुछ कृत्य यहां हुए हैं और हो रहे हैं—वे धर्म के भीतर से ही हो रहे हैं।

शक्तिमान् पुरुष ही सब समाजों का परिचालक होता है।

इसके अलावा उपाय पद्धति सब देशों में एक ही है, अर्थात् कुछ थोड़े से शक्तिमान् पुरुष ही जो कुछ व्यवस्था कर देते हैं।

वही होता है, बाक़ी तो सब भेड़ियाधसान मात्र हैं । हमने तुम्हारी 'पार्लियामेन्ट' को देखा है, 'सिनेट' 'वोट' 'वैलट' 'मैजोरटी' आदि सभी देखी भाली हैं', सर्वत्र एक बात है । शक्तिमान पुरुष जिधर चाहते हैं, उधर ही समाज को चला देते हैं, बाकी सब भेड़ों का दल है । लेकिन भारतवर्ष में कौन से शक्तिमान् पुरुष हैं ? धर्म्मवीर नेता ही हमारे समाज की परिचालना करते हैं। वे ही समाज की रीति-नीति बदलने की आवश्यकता होने पर बदल सकते हैं । और हम चुपचाप उनका पालन करते हैं। विलायत की मेजौरिटी और बोट आदि केवल नाम मात्र को हैं ।

यूरोप में राजनीति के नाम से दिन में डांका पड़ता है ।

इसमें कोई शक नहीं कि, वोट वैलटों से प्रजा को जो एक प्रकार की शिक्षा मिलती है, उससे हम वंचित हैं; किन्तु राजनीति के नाम से जिन चोरों का दल देश के लोगों का खून चूसता है, सारे यूरोप को खाये जाता है, वह दल भी तो हमारे देश में नहीं । वहां पर ऐसी ऐसी घूंसें चलती हैं कि, जिन से ग़रीबों का गला कटता और वे माला माल हो जाते हैं । यदि वहां के भीतरी गुण देखे जांय तो अपने को यूरोपीय रूप में ढालने वाले एक दम हताश हो बैठें । "गोरस गलि गलि बिकत है, सुधा बिकत एक ठांय" "सती को ना मिले धोती, किम्बबिल पहने रेशम ।" जिनके पास में रुपया है वे राज्य-शासन अपनी मुट्ठी के भीतर रखते हैं । प्रजा को लूटते हैं, खून पीते हैं, इस के बाद ज़बरदस्ती रंगरूट भर्त्ती कर, मरने को भेज देते हैं । जीत हुई, घर में माल आया, प्रजा मुफ़्त मरी ।

एक बात पूछते हैं, "मनुष्य आईन को बनाता है या आईन से मनुष्य बनता है ? रुपया पैसा मनुष्य पैदा करता है या रुपया पैसा मनुष्य को पैदा करता है ? दूसरे शब्दों में—मनुष्य, नाम और

कीर्त्ति का संस्थापन करता है वा नाम और कीर्त्ति मनुष्य गढ़ती है? हमारी समझ में इन सब बातों का उत्पादक मनुष्य ही है।

मनुष्य बनो।

अतः मनुष्य बनो। मनुष्य बन जाने पर आप में वे गुण स्वतः आजावेंगे। परस्पर के वाग्वितण्डा वादों को छोड़ कर सदुद्देश्य, सदुपाय, सत्साहस और सद्वीर्य्य का अवलम्बन करो। तत्व इन्हीं में है। यदि मानव रूप धारण किया है तो राम, कृष्ण और हरिश्चन्द्र की भांति कुछ निशान भी यहां छोड़ जाओ। "तुलसी जब जग में भए, देखि हंसे सब लोग। ऐसी करनी कर चलो, रोवें तुम को लोग।" जब तुमने इस संसार में जन्म लिया था, तो सभी संसार हँसा था और तुम रोये थे, लेकिन अब ऐसे काम करो कि जिन से तुम तो हँसते जाओ और संसार तुम्हारे लिये रोवे। तभी तुम मनुष्य हो, वरन् पशु और तुम में कुछ भेद नहीं।

हमें पाश्चात्य जाति के गुण अपने सांचे में ढाल लेने चाहियें।

और एक बात है-यह सत्य है कि, अन्यान्य जातियों में हमारे सीखने योग्य बहुत सी बातें हैं। जो आदमी यह कहता है कि मैं सब गुणों से पूर्ण हूं, समझ लो उसे उन्माद हो गया है; जो जाति अभिमान करती है कि मैं सर्वज्ञ हूं, उस जाति के अवनति के दिन अति निकट हैं। "जब तक जीवें तब तक सीखें।" तब मालूम होगा कि संसार में हमारा कल्याण अपरमित है। लेकिन सीखो इस ढंग से, जिस से हमारी असली वस्तु का स्वरूप नष्ट न हो; उसे बचा कर अन्य बातें सीखो। प्रायः सभी देश के आदमी भोजन करते हैं, लेकिन हम खाते हैं पालती मार कर—बैठ कर, और विलायती पाँव लटका कर। अगर हम उन जैसा पौष्टिक भोजन

करें तो उसी रीति से जैसे कि वे खाते हैं या अपनी पुरानी रीति से ? हमारे पाँव तो केवल उसी समय सर्व साधारण के सामने आते हैं जब कि यम के घर का निमन्त्रण आता है। विद्वानों का तो मत यही है कि पाल्ती मार कर ही भोजन करो। अतः खाओ भले ही उन जैसा, पर रीति अपनी ही रक्खो। असल जातीय-चरित्र को कभी न खोना चाहिये। भला बताओ तो मनुष्य कपड़े पहिनता है या कपड़े मनुष्य को पहिनते हैं ? शक्तिमान पुरुष चाहे जैसी पोशाक पहने, मान उसका उतना ही होगा, जितना होता चला आया है, और हम जैसे अहमक कितने ही सुन्दर वस्त्र क्यों न पहनें, गली गली कूँचे कूँचे क्यों न फिरें लेकिन कोई भी मान नहीं करेगा। अस्तु।

हमारे मत में हरएक आदमी में तीन चीजें हैं—शरीर, मन और आत्मा। पहले शरीर की बात लेते हैं जो सब की अपेक्षा बाहर की चीज़ है।

शरीर के नाक, मुंह, गठन, लम्बाई, चौड़ाई, रङ्ग और बाल आदि से कितने ही भांति के भेद हैं।

वर्ण भेद का कारण।

आधुनिक पण्डितों के मत में रङ्ग का भेद वर्णसांकर्य्य में जा पहुँचा है। गरम देश और ठण्डे देश के भेद से कुछ न कुछ परिवर्त्तन अवश्य होता है; किन्तु काले सफ़ेद का असल कारण पैतृक है। अति ठण्डे देश में भी मदमैले रङ्ग की जातियां देखी जाती हैं एवं अतिउष्ण देश में भी झकझकाते श्वेत वर्ण की जातियां रहती हैं। कनाडा-निवासी अमेरिका के आदिम मनुष्य और उत्तर-मेरु के पास के देश निवासी एस्कुइमाँ आदि लोग बेहद काले होते हैं और महाविषुवतरेखा के ऊपरी भाग के द्वीपों में सफेद रङ्गवाली

आदिम जाति का निवास है, बोर्निओ, सेलिबिस आदि द्वीपों में भी इसका पता. खूब लगता है।

आर्य्य जाति।

अब, हमारे शास्त्रकारों के मत में, हिन्दुओं के भीतर ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य ये तीन जाति हैं, एवं चीन हूण, दरद, पल्हव, यवन और खश, ये सब भारत के बहिःस्थित जातियां हैं, इनका नाम है आर्य्य। शास्त्रोक्त चीन जाति ये वर्त्तमान के 'चीनू मैन' नहीं हैं। वे तो उस समय अपने को चीनू कहते ही नहीं थे। चीन हम उस जाति को कहते हैं जो काश्मीर के उत्तर पूर्व भाग में रहती थी। दरद भी, जहां इस समय भारत और अफ़ग़ानिस्तान की पहाड़ी जातियां रहती हैं, वहां रहती थी। प्राचीन चीन जाति के दश बारह वंशधर अब भी हैं। दरद स्थान अब भी है। राजतरंगिणी नामक काश्मीर के इतिहास में बारम्बार दरद राज की प्रभुता क परिचय मिलता है। हूण नामक प्राचीन जाति बहुत दिन पहले भारतवर्ष के उत्तर पश्चिमांश में राज करती थी। इस समय तिब्बती लोग अपने को हूण बताते हैं, लेकिन वे मालूम होता है 'हिमून' हैं। सारांश यह कि मनु द्वारा बताये हूण आधुनिक तिब्बती नहीं हैं। हां ऐसा हो सकता है कि उन आर्य्य हूण और मध्य एशिया से आयी किसी मुग़ल जाति के सम्मिश्रण से वर्त्तमान् तिब्बतियों की उत्पत्ति है। प्रजा बलस्कि और ड्यू क्रुड अरलिआं नामक रूस और फ्रांसीसी ट्रैवलरों के मत में तिब्बत के स्थान स्थान पर अब भी आर्य्य-मुख-नेत्र-विशिष्ट जाति देख पड़ती हैं। यवन नाम ग्रीक देशियों का है। इस नाम के ऊपर पहले बहुत कुछ विवाद हो चुका है। बहुतों के मत में यवन नाम 'योनिया' नामक स्थान के रहनेवाले ग्रीकों के लिये व्यवहृत होता है, इसलिये महाराजा अशोक के पाली लेख में 'योन' नाम से ग्रीक जाति पुकारी

गयी है। वाङ् को योन शब्द से संस्कृत यवन शब्द की सृष्टि हो गयी। हमारे यहां के किसी किसी प्राच्यतत्व के ज्ञाता के मत में यवन शब्द ग्रीक नहीं है। लेकिन यह भ्रमपूर्ण मत है। यवन शब्द ही आदि शब्द है; कारण—केवल हिन्दू ही ग्रीकों को यवन कहते थे, यह नहीं—प्राचीन मिसरी और बाविलर भी ग्रीकों को यवन नाम से पुकारते थे। पहलव शब्द से, पहेलवी भाषाभाषी प्राचीन पारसी जाति को समझना चाहिये। खश शब्द, वर्त्तमान में भी पार्वत्य देशवासी अर्द्ध सभ्य आर्य्य जाति के लिये कहा गया है; क्योंकि, हिमालय में आज कल भी यह नाम इसी अर्थ में व्यवहृत होता है; वर्त्तमान यूरोपीय भी इस अर्थ में खशों के वंशधर माने जाते हैं; अर्थात् जो २ आर्य्यजातियां प्राचीनकाल में असभ्य गिनी जाती थीं, वे सभी खश हैं।

आर्य्य-जाति का गठन और वर्ण।

आधुनिक पण्डितों के मत में आर्य्यों का लाली मिश्रित गौर वर्ण होता है, बाल काले या भूरे, सीधी नाक और सीधी आंखें इत्यादि, एवं माथे के गठन में, बालों के रंग भेद से कुछ फ़र्क़ है। ये लोग जहां काले देख पड़ते हैं, वहां समझना चाहिये—अन्यान्य काली जातियों के मेल से काले हो गये हैं। इनके मत में हिमालय के पश्चिमी प्रान्त की दो चार जातियां अब भी पूरी आर्य्य हैं। बाकी सब खिचड़ी हैं, यदि खिचड़ी न होती तो काली क्यों? यूरोपीय पण्डितों को समझ लेना चाहिये कि, दक्षिण भारत में अब भी बहुत से बच्चे भूरे बालों के पैदा होते हैं, लेकिन दो चार साल के बाद ही उनके वे बाल काले हो जाते हैं और हिमालय में बहुत से लोग लाल बालों, नीली या कटीली आंखों के देखे जाते हैं।

हिन्दु और आर्य्य ।

आर्य्यसमाज भले ही गला फाड़ फाड़ कर चिल्लावे कि हम आर्य्य हैं, हिन्दू काफ़िरों को कहते हैं। पर यह बात सर्व-सम्मत है कि, आर्य्य नाम और हिन्दू नाम में कुछ फ़र्क़ नहीं है। आर्य्य ही हिन्दू हैं। हिन्दू नाम शुद्ध हो वा अपभ्रंश हो, लेकिन हिन्दू ही आर्य्य गुण विशिष्ट हैं। समय के प्रभाव से लोग इस नाम से घृणा करने लगे। पहले संस्कृत नाटकों में हिन्दू शब्द उच्च जाति के लिये प्रयुक्त हुआ है। 'यवन' लोग भले ही इस शब्द के माने काफिर लगालें। उससे हमें क्या !

प्राच्य और पाश्चात्य के साधारण भेद ।

खैर, काले हों या गोरे हों, दुनियां की सब जातियों से यह हिन्दू जाति ही सुश्री और सुन्दर है। यह बात हम अपनी जाति की बड़ाई के लिहाज़ से नहीं कहते, वह सर्व सम्मत और जगत प्रसिद्ध है। फ़ी सदी ८० सुश्री नरनारियों की संख्या इस देश की भांति और कहां है ? इसके बाद अन्यान्य देशों में सुश्री होने में जिन बातों की आवश्यकता होती है हमारे देश में वहां की अपेक्षा उनका ढेर का ढेर है, क्योंकि हमारा शरीर अधिकांश खुला हुआ है। अन्यान्य देशों में कपड़ों-उपड़ों से विश्री को सुश्री बनाने की चेष्टा करते हैं।

हिन्दू सुश्री और यूरोपीय सुस्थकाय हैं ।

तिस पर भी स्वास्थ्य-विषय में पाश्चात्य-लोग हमारी अपेक्षा बहुत कुछ सुखी हैं। इन देशों में ४० वर्ष के आदमी को जवान और ५० वर्ष की स्त्री को युवती कहते हैं। ये लोग अच्छा खाते और अच्छा पहनते हैं, देश भी अच्छा है और सब से बड़ी

बात तो यह है कि ये थोड़ी उम्र में शादी नहीं करते। हमारे देश में भी जो दो एक बलवान जातियां हैं, उनसे पूछ देखो, वे कितनी वयस् में विवाह करते हैं। गोरखा, पंजाबी, जाट और अफ़्रीदी आदि पार्वत्य जातियां, कम उम्र में शादी करना बहुत बुरा समझती हैं। अलावा इस के शास्त्र भी उठा कर देखलो, उस में २०-२५ और ३० वर्ष की अवस्था में विवाह करने की आज्ञा है। आयु, बल, और वीर्य्य में भी हम और ये भिन्न २ हैं। हमारा बल, बुद्धि और विश्वास, तीनों भिन्न हैं, ये लोग फुर्त्तीले हैं। हम निरामिष भोजी हैं, और हमारे रोग पेट से पैदा होते हैं। ये लोग मांस भोजी तथा हृदय रोग के रोगी हैं। इन के यहां के आदमी हृदय रोग से, फुप्फुस रोग से मरते हैं। हमारे एक विद्वान् डाक्टर मित्र ने पूछा था कि, 'पेट के रोग वाले आदमी प्रायः निरुत्साही और वैरागी होते हैं, एवं हृदयादि शरीर के ऊपरी भाग के रोगी आशा, विश्वास के पूरे होते हैं। हैज़े का रोगी आरम्भ से ही मृत्युभय से अस्थिर हो जाता है। क्षय का रोगी मरने के समय तक विश्वास रखता है कि वह अच्छा हो जायगा। अतएव क्या इसी कारण से भारतवासी हमेशा 'मरना मरना' और विरागी होने को कहते रहते हैं ?' हम तो अभी तक उनके इस प्रश्न का उत्तर नहीं दे सके, किन्तु बात अवश्य विचारणीय है। हमारे देश में दांत का रोग, बालों का रोग बहुत कम है, और यूरोप के लोगों के स्वाभाविक दांत और बाल के रोगी ही प्रायः देखने में आते हैं। हम नाक छिदवाते हैं, कान छिदवाते हैं, गहना पहनने के लिये; पर ये लोग महा सभ्य, नाक कान फोड़ना इनके मत में बुरा है, किन्तु कमर को बचपन से ही बांध बांध कर छोटी बना देते हैं, शिर टेढ़ा कर देते और प्लीहा यकृत को स्थान भ्रष्ट करके शरीर को भोंड़ा कर बैठते हैं। दिन इन्हें गठन करने में बीतता है, रात उसकी उपाय चिन्ता में बीतती है। इनकी पोशाक काम काज करने के लिये अत्यन्त उपयोगी होती है; धनी लोगों की

स्त्रियों की सामाजिक पोशाक को छोड़ साधारण स्त्रियों की भी पोशाक वैसी ही होती है। लेकिन हमारी स्त्रियों की साड़ी और पुरुषों के चोगे चपकन तथा पगड़ियों के सौन्दर्य्य की समता अन्य देश की पोशाकें नहीं कर सकतीं। हम चुस्त कपड़े नहीं पहनते, इसी से काम काज के समय उनका विसर्ज्जन करना पड़ता है। इनका फैशन कपड़ों में है—और हमारा गहनों में। हां, अब कुछ कुछ कपड़ों में भी आता जाता है। फैशन किसे कहते हैं—ढंग को; यूरोप में स्त्रियों के कपड़ों का ढंग पैरिस की नक़ल है, और पुरुषों का लन्दन की। पैरिस में फैशन की ईजाद नर्त्तकियों से शुरू होती है; वहां, जहां किसी नाचनेवाली ने नई पोशाक पहनी, बस सभी उसकी नक़ल करने दौड़ते हैं। अब दर्जी भी उसी तरह के कपड़े सीने लगे। उनकी पोशाकों के तैयार होने में हर साल कितने करोड़ रुपया लगता है, इसका कुछ शुमार नहीं। पोशाकों की कतर ब्योंत भी अब एक विद्या के रूप में जा पहुंची; किस स्त्री के शरीर, बाल और रंग के साथ किस रंग की पोशाक अच्छी मालूम होती है, किस के शरीर की गठन के मुआफ़िक कैसे कपड़े अच्छे होंगे, कपड़े चुस्त हों या ढीले, इत्यादि बातों के लिये बड़े २ दिमाग़ वाले परीक्षक, एक टेलर के यहां मग़ज़पच्ची करते रहते हैं। इस के बाद, दो चार उच्चपदस्थ महिला जो कुछ करती हैं, बाकी सब स्त्रियों को उन्हीं का अनुसरण करना पड़ता है—न करने पर 'इन्सल्ट' होगी!! इसका नाम फैशन है! फिर, यह फैशन घड़ी घड़ी में बदलता है; साल में चार ऋतुएं होती हैं, तदनुसार कपड़े भी चार ही भांति के होंगे। जो अमीर आदमी हैं, उनके यहां बारहों महीने दर्जी काम करते रहते हैं, जो मध्य स्थिति के हैं वे कितने एक अपने हाथ से और कितने एक छोटे मोटे दर्जियों से नई ढंग की पोशाकें तैयार कराते हैं। और बहुत गरीब आदमी अपने उस नूतन फैशन की आग पुराने कपड़ों को नयों से

बदल कर बुझालेते हैं। बड़े आदमी हर ऋतु में कपड़े, अपने नौकरों को दे डालते हैं और मध्य दर्जे के बेच डालते हैं। तब वे कपड़े जितने अंग्रेजी उपनिवेश हैं, जैसे अफ़्रीका, एसिया और आस्ट्रेलिया—वहां भेज देते हैं, जिन्हें ख़रीद कर वहां के आदमी अपनी नूतन पोशाक-पिपासा को बुझाते हैं। जो खूब धनी हैं वे चाहें हज़ार कोस पर क्यों न रहते हों, पोशाक उनकी पैरिस से तैयार होकर ही आती है; बाकी आदमी उन्हें देख कर नकल करा कर पहनते हैं। लेकिन स्त्रियों की टोपियां ठेठ फ्रांस से ही आनी चाहिये? जिनके पास वह नहीं वे लेडी नहीं। अंग्रेज यानी लन्दन निवासी और जर्मन स्त्रियों की पोशाक बड़ी ख़राब होती है; वे पैरिस के ढंग की पोशाक नहीं पहनतीं—अलावा दस पांच सभ्य और बड़े आदमियों के। इसलिये अन्यान्य देशों की स्त्रियां उनका मज़ाक़ उड़ाती हैं। लेकिन अंग्रेज लोग उसी प्रकार की बढ़िया पोशाक पहनते हैं। अमेरिका में भी उनकी खासी आमदरफ्त है। यद्यपि अमेरिकन गवर्नमेण्ट पैरिस या लण्डन की आयी हुई पोशाकों पर खूब महसूल लगाती है, जिस से विदेशी माल इस देश में न आवे; तथापि ये लोग दुगना तिगना महसूल देकर अपनी हविश पूरी करते हैं। अनेक भांति के अनेक रंगों के पशमीने बनात और रेशमी कपड़े रोज़ बरोज़ तैयार होते हैं। लाख लाख लोग दिन रात उन में लगे रहते हैं और अच्छे २ कपड़े सीते हैं। ठीक ढंग की पोशाक न होने पर जेण्टिलमैन या लेडी लोगों को रास्ता चलना मुश्किल है। घर से निकलना हराम है। हमारे देश में इस फैशन की बाढ़ कुछ कुछ गहनों की ओर ढली हुई है। किन्तु उपरोक्त देशों के वस्त्र बुनने वाले की नज़र तो दिन रात लोगों की पसन्दगी के ऊपर लगी रहती है, अथवा वे किसी नई लोकचित्ता-कर्षण करने वाली वस्तु की ईजाद की फिक्र में तल्लीन रहते हैं। कपड़े की मज़बूती की ओर उनका ख्याल एकदम नहीं। अब 'धर्म'

नेपोलिअन, फ्रांस देश का राजा था तब उसकी सम्राज्ञी 'अजनि' पाश्चात्य जगत् के वेश-भूषा की अधिष्ठात्री देवी थी। उसे काश्मीरी साल बहुत पसन्द था। अतः लाखों रुपयों के शाल यूरोपहर साल ख़रीदता था। अब उसका पतन पैरिस के माल ने करा दिया-अब साल की बिक्री नहीं रही।

मौलिकता के अभाव में ही हमारी अवनति है।

हमारे यहां के लोग तो बिचारे सीधे हैं, वे नवीन आविष्कार फिर अपनी बुद्धि से—करना मतविरुद्ध समझते हैं, बाज़ार में दख़ल करना उनके लिये बुरी बात है। काश्मीर ने बहुत बेजा धक्का खाया, बड़े २ सौदागर ग़रीब होगये। यह संसार है—"न मैं तेरा देखूं न तू मेरा देखे। न मालूम कौन किस मतलब से खड़ा है।' यूरोपीय चार चक्षु हैं, वे अनेक हाथों से काम करते हैं, और हम, हमारा तो वह कहना है कि—'गुसाईं जी ने जो बात अपनी पोथी में नहीं लिखी, दुनियां में वह है ही नहीं' फिर करने की शक्ति भी जाती रही, अब तो दूसरे के मुंह को ताकना ही अपना काम रह गया है। अन्न के विना हा हा कार मच रहा है !! दोष किसका ? प्रतिविधान की चेष्टा तो काफ़ूर है, खाली चिल्लाहट बाकी रह गई! कोने में बैठे रहो, कहीं बाहर मत जाओ; दुनियां क्या चाहती है—इस बात को देखने की कुछ आवश्यकता नहीं। अपने आप सब ज़रूरतें पूरी हो जावेंगी। कहो, कभी देवासुर की कहानी सुनी है!! देवता आस्तिक हैं—आत्मविश्वासी, ईश्वर और परलोक में विश्वास रखते हैं। असुर कहते हैं—'इस लोक और पृथ्वी का भोग करो, इस शरीर को सुखी रक्खो, देवता अच्छे हैं वा असुर—इस बात से कुछ मतलब नहीं, वरन् पुराणों के असुरों ने ही इस बात को निर्णीत कर लिया है कि हम ही मनीषी हैं, देवता तो अनेकांश में हीन हैं। अब अगर तुम बेवकूफ देवता बनते हो, तब तो

तुम वास्तव में अपने रूप में हो, और यूरोपीय असुर हैं, तो वे वास्तव में बुद्धिमान् और पुरुष-पुंगव हैं।

शरीर शुद्धि के बारे में प्राच्य और पाश्चात्य की तुलना।

अब शरीर की बात लो। शुद्ध शरीर रखना सब अच्छा मानते हैं। भीतर और बाहर की शुद्धि का ही नाम पवित्रता है। लेकिन दुनियां की ऐसी कोई भी जाति नहीं जो हिन्दुओं की भांति साफ़ रहती हो। हिन्दुओं के सिवा अन्य कोई जाति जलशौचादि नहीं करती। यूरोपीय और चीनू पायखाने जाते वक्त शौच के लिये कागज़ ले जाते हैं और स्नान तो एक प्रकार से कहना चाहिये कि वे करते ही नहीं। अब आजकल अंगरेज़ ज़रा ज़रा स्नान करने लगे हैं सो भी भारत में रहने के कारण। लेकिन यहां के लड़के जो विलायत में बारिस्टरी आदि पढ़ने जाते हैं उन से पूछो तो कि वहां स्नान की कितनी तकलीफ़ है? वहां जो लोग स्नान करते भी हैं तो सप्ताह में एकबार। हां अमीर लोग नित्य स्नायी हैं। और अमेरिकन ही उनसे कुछ अधिक हैं। पर जर्मन एक दम कालभद्र और फ्रांसीसी आदि तो कभी स्नान करते ही नहीं!!! स्पेन इटाली अति गरम देश हैं—वहां और भी नहीं। ढेरों लहसुन भक्षण करते हैं—दिन रात पसीने से सराबोर रहते हैं पर जल का स्पर्श सात जन्म में भी नहीं। उनके शरीर की गंध से भूतों के चौदह पुरुष भी भाग जांय—भूत तो बिचारे हैं क्या चीज़? वहां स्नान के क्या अर्थ होते हैं सुनिये,—मुंह और सिर का धोना और हाथ धोना, जो हर समय खुले रहते व दीखते हैं। फिर क्या? एक दफ़ा पैरिस, सभ्यता की राजधानी पैरिस, रंग ढंग भोगविलास की स्वर्ग भू पैरिस, विद्या शिल्प की केन्द्र पैरिस, उस पैरिस में एक बड़े धनी मित्र ने हमें निमंत्रण देकर बुलाया। एक राजमहल जैसे बड़े होटल में हम ठह-

लाये गये। वहां का खानपान सब राजोपम, किन्तु स्नान का नामोनिशान भी नहीं । एक दिन बीता दूसरा बीता—आख़िर हमें यह अभाव एक दम असह्य हो उठा। धनी मित्र से कहा भैया, तुम्हारे ये राजभोग तुम्हें ही मुबारिक रहें, हमें रिहाई ?— ऐसी गरमी पड़ती है और तिस पर भी स्नान नहीं ! हम तो कुत्ते की मौत मर जांयगे। मित्र दुःखित होने से चिढ़कर बोले—'यहां ऐसा होटल कहीं नहीं जहां स्नान का सुभीता हो, आगे आप जहां चलना चाहें चलिये।' १२ प्रधान प्रधान होटल देख डाले, पर स्नान की जगह कहीं न मिली। हां, अलहिदा स्नानागार हैं, पर वहां चार रुपया देकर एकबार स्नान होता है। प्रभो ! तुम्हीं रक्षा करोगे। उसी दिन दोपहर को अख़बार में पढ़ा गया कि एक बूढ़ी स्नान करने के लिये टब में बैठते ही मर गयी !! इस बूढ़ी ने जन्म भर में एकबार स्नान किया था, सो बिचारी जल छूते ही मरगयी !! यह बात कोई झूठी न समझें, सच ही है। रूसी लोग तो पूरे म्लेच्छ हैं और यह म्लेच्छता तिब्बत से आरम्भ होती है । अमेरिका में ज़रूर प्रत्येक घर और प्रत्येक स्थान पर एक एक स्नान-घर और पानी के पाइप का बन्दोबस्त है।

लेकिन भेद देखो। हम स्नान क्यों करते हैं?—अधर्म्म के डर से; यूरोपीय हाथ मुंह धोते हैं सफ़ाई के लिहाज़ से। हम पानी उड़ेल कर डुबकी लगाकर नहाते हैं और वे तेल की मालिश करें, मैले रहें, तो भी नहीं नहाते। दक्षिणी लोग बड़ा बेढब स्नान करते हैं; वे पानी से नहीं डरते, चाहें कितनी देर वहां पड़े रहें। फिर हमारा स्नान तो एक सीधी सी बात है, जहां चाहो डुबकी लगा लो। विलायती लोगों को नहाने के लिए भी तरह तरह के कपड़े तैयार कराने पड़ते हैं? हमारे यहां नंगे नहाते हैं, उनके यहां यह बे अदबी है।

बहिराचार अर्थात् साफ़ सुथरा रहना, अन्यान्य आचारों की भांति कभी कभी अत्याचार या अनाचार में दाखिल हो जाता है। यूरोपीय कहते हैं, शरीर सम्बन्धी सब काम एकान्त में करो, बहुत अच्छा! नहाना धोना तो एक ओर रहा, वहां दो चार आदमियों के सामने खांसना खखारना भी महा अभद्रता है। सब के सामने खाना भी बड़ी लज्जा की बात है, क्योंकि उसके अन्त में कुल्ला करना पड़ता है। लोक लज्जा के डर से खाने के बाद केवल रूमाल से मुंह पोंछ कर बैठ जाते हैं; इसी से उनके दांतों का सर्वनाश हो जाता है। यही सभ्यता के डर से हुआ अनाचार है। फिर उन के मत में सम्भव है, हमारा दुनियां के लोगों के सामने बैठ कर 'कप' की नकल करके हाथ मुंह धोना, दांत मांजना और कुल्ला करना ही अत्याचार माना जाने लगे। अतः इन सब कामों का एकान्त में ही करना उचित है, लेकिन न करना अनुचित है।

फिर देश भेद से जितने काम अनिवार्य्य हैं उन्हें समाज नहीं सहता? हमारे गरम देश में खाते वक्त हर एक आदमी दिन भर में कम से कम आधा घड़ा पानी पी जाता है। पर विलायत में सफ़ाई के उद्देश्य से झूंठे हाथ पानी का ग्लास नहीं छूते—उनके मत में पेट को इस तरह कूआं बनाना अभद्रता है। पानी पीना तो अभद्रता है पर खाते वक्त रूमाल में नाक भरना भद्रता है। हमारे देश में यह बात घृणित मानी जाती है। पर वे ठण्डे मुल्क हैं, वहां बिना ऐसा किये काम नहीं चलता।

'हम मैलेपन से घृणा करते हैं, पर रहते सदा मैले हैं। मैले से हमें इतनी घृणा है कि उस के स्पर्श मात्र से ही हमें स्नान करना पड़ता है, परन्तु वही मैला हमारे घर के दरवाजों पर ढेर का ढेर पड़ा रहता है। यह तो नरक कुण्ड है? एक अनाचार के भय से दूसरा अनाचार हो गया। इसी से तो लोग कहा

करते हैं कि एक पाप से बचने के लिये दूर हटने पर, दूसरा पाप सामने आ खड़ा होता है। जिसके मकान में मैला है वह पापी है,—इसमें कुछ सन्देह नहीं।

भोजन के बारे में।

हमारे यहां के भोजन पकाने की पद्धति की भांति साफ़ पद्धति कहीं नहीं और विलायती खाने की शृंखला की भांति साफ़ पद्धति हमारे यहां नहीं। हमारा रसोइया स्नान करता है, कपड़े बदलता है, बर्त्तन भांड़े सबको धोता और मांजता है, नाक और मुंह में हाथ देने पर, हाथ धोकर खाद्य पदार्थों को छूता है। लेकिन विलायती बावर्ची के चौदह पुरखा भी नहीं नहाते; पकाते पकाते चाखता है और फिर उसी चमचे को हांडी में डाल देता है। रूमाल से नाक साफ़ करके रख लेता है और उन्हीं हाथों से मैदा माड़ता है। पायखाने गया—काग़ज़ से शौच का काम लिया, मगर हाथ धोने से कुछ मतलब नहीं, उन्हीं हाथों से रांधने लगा। इतना होने पर भी झक झकाते कपड़े और टोपी ओढ़ता है। मैदा मांड़ने की रीति भी—बड़ी बेढब, एक बड़े से काठ के टब में दो मनुष्य नंगे होकर ढेरों मैदा के ऊपर नाचा करते हैं। गरमी का समय, पसीने से सारा शरीर सराबोर, लेकिन पांवों से मैदा मड़ी जा रही है। इसके बाद जब उसकी रोटी तैय्यार होती हैं तो दूध के झागों की भांति झक झकाती चादर के ऊपर चीनी के बासन में सजा सजा कर रक्खी जाती हैं, जिस समय Cook महोदय आधी बाहुओं तक दस्ताने डाटे, साफ़ कपड़े पहने उन्हें सामने लाकर रखते हैं, मानों यहां की सी सफ़ाई कहीं नहीं।

हमारा स्नान किया हुआ 'बामन' साफ़ बर्त्तनों में, साफ़ बट-लोई में शुद्धता से रांधकर गोबर से लिपी ज़मीन के ऊपर थाल में भोजन-व्यंजनों को रखता है, बामन देवता का कंधे पर पड़ा

अँगोछा केवल मैला होता है, अपवाद है कि कभी २ वह भोजन में भी जा पड़ता है ?

हम नित्यस्नायी होकर भी पहनते वही तैल कीट को मात करने वाले कपड़े हैं; और यूरोप में विना नहाये मैले शरीर में ही नित्य झकझकाती पोशाक पहने रहते हैं । बस इसे ही अच्छी तरह समझ लो, यही सब से पहला भेद है । हिन्दू लोगों की सर्वत्र भीतरी भाग पर दृष्टि है । हिन्दू लोग फटी गुदड़ी के भीतर कोहनूर रखते हैं, विलायती लोग सुवर्ण के बक्स में मट्टी का डेला रखते हैं । हिन्दुओं को सिर्फ़ साफ़ शरीर प्रिय है, कपड़े चाहे जैसे हों ? विलायती साफ़ कपड़ों को चाहते हैं, शरीर भले ही मैला हो ! हिन्दुओं का घर-द्वार साफ़ सुथरा रहता है, बाहर नरक-कुण्ड क्यों न रहे, विलायती लोगों के यहां साफ़ झकझकाती 'कारपेट' के नीचे ढेरों कूड़ा छिपा रहता है । हिन्दू भीतरी भाग साफ़ रखते हैं ! विलायती बाहरी भाग साफ़ रखते हैं ।

आवश्यकता किस बात की है ?—साफ़ शरीर में साफ़ कपड़ों का पहनना । मुंह धोना, दांत मांजना सब चाहते हैं—पर एकान्त में, छिप कर । साफ़ घर हो । पथ-घाट सब साफ़ हों ? साफ़ रसोइया, और साफ़ हाथों से पका भोजन, तिस पर भी सब मनोरम स्थान में, साफ़ बर्तनों में खाना । सभी लोग सफ़ाई चाहते हैं । "आचारः प्रथमोधर्मः" आचार ही पहला कर्त्तव्य है, फिर सब कुछ साफ़ हो । आचारभ्रष्ट धर्मात्मा नहीं कहा सकता अना-चारी को दुःख नहीं दीख पड़ते, देख कर भी वह उन से शिक्षा नहीं लेता । इतना हैज़ा, इतनी महामारी और मलेरिया; यह किस का दोष है ? हमारा ही न ? हम महा अनाचारी हैं, अंग्रेज सर्वज्ञाता, भविष्यवेत्ता हैं !

"आहार शुद्ध होने से मनकी शुद्धि होती है, मन शुद्ध होने से आत्मासम्बन्धी अचला स्मृति होती है"—ये शास्त्र वाक्य हमारे देश के प्रायः सभी सम्प्रदाय मानते हैं। यदि कहीं फर्क़ है तो बस यहीं कि शंकराचार्य्य के मत में आहार शब्द का अर्थ इन्द्रिय है और रामानुजाचार्य्य के मत में भोज्य द्रव्य है। सिद्धान्त यह है कि दोनों अर्थ ठीक हैं। बिना विशुद्ध भोजन के इन्द्रियां अपना यथार्थ कार्य्य नहीं कर सकतीं, और दूषित भोजन से इन्द्रियों की ग्रहणशक्ति का ह्रास वा विपर्य्यय होता है, यह सबको प्रत्यक्ष है। अजीर्ण के दोष से एक वस्तु का अन्य वस्तु के बल से भ्रम होना और भोजन के अभाव से दृष्टि आदि शक्ति का ह्रास होना सभी जानते हैं, एवं उसी भांति किसी विशेष आहार से, विशेष शारीरिक और मानसिक अवस्था उपस्थित हो जाती है यह बात भी कई बार सिद्ध हो चुकी है। हमारे समाज में जो इतना खाद्याखाद्य का विचार है, उसके मूल में भी यही तत्त्व है।

रामानुजाचार्य्य ने भोज्यद्रव्यों के बारे में तीन बातों पर ख़्याल रखने की आज्ञा दी है। जाति दोष, अर्थात् जो दोष भोज्य द्रव्य के जातिगत हैं, जैसे प्याज, लहसुन आदि द्रव्य,—इनके खाने से मन में अस्थिरता आती है अर्थात् बुद्धि-भ्रंश हो जाती है। आश्रय-दोष, अर्थात् जो दोष व्यक्ति विशेष के स्पर्श से आते हैं, दुष्ट लोगों के अन्नादि खाने से ही दुष्ट बुद्धि होती है और सज्जन के अन्न से सुबुद्धि आती है। निमित्तदोष, अर्थात् मैला कुचैला, कीड़े केशों से दुष्ट अन्न खाने से भी मन अपवित्र होजाता है। इन सब में से जातिदोष और निमित्तदोष से बचने की चेष्टा सभी कर सकते हैं, पर आश्रयदोष से बचना सब के लिये साधारण बात नहीं। इस आश्रय दोष से बचने के लिये ही हमारे देश में छुआ छूत का प्रचार है। लेकिन आजकल 'उल्टे समझे श्याम' की कहावत

चरितार्थ है, असली तत्त्व को न समझ कर इस विषय में लोगों ने विपरीत अर्थ लगा लिये और उनके हृदय में एक "विस्तृत क्रियाकार" का कुसंस्कार बैठ गया। कहने लगे हिन्दु जाति बड़ी संकुचित है, छोटी जातियों से अस्पृश्य कह कर घृणा करती है। ऐसे स्थान पर लोकाचार को छोड़ लोकमान्य महापुरुषों का आचार ही ग्रहणीय है। श्री चैतन्य आदि लोकमान्य पुरुषों का जीवन पढ़ देखो, उन्होंने इस सम्बन्ध में क्या व्यवहार किया है। जातिदुष्ट अन्नभोजन के सम्बन्ध में, भारतवर्ष की भांति शिक्षित देश अब भी पृथ्वीभर में कोई नहीं। ऐसी कोई भी जगह इस भूमण्डल में नहीं जो हमारे देश की भांति पवित्र भोजन की पक्षपातिनी हो। निमित्त दोष के बारे में आजकल बड़ी भयंकर अवस्था उपस्थित है; हलवाइयों की दूकानें, बाज़ार में खाना, ये सब महा अपवित्र हैं—झूठी बात नहीं—सब कुछ प्रत्यक्ष है, वहां की सामिग्रियों में किस प्रकार के निमित्त दोषों से दुष्ट मिली होती हैं, मैले-कुचैले, दुर्गन्धित धूल पाकीय बर्तनों का धोवन आदि सभी कुछ उन में मिला होता है—अतः इनका फल भी हाथों हाथ मिल जाता है। यह जो घर घर में अजीर्ण की शिकायतें सुनाई देती हैं, वे इन हलवाइयों की दुकानें ही हैं, बाज़ारों में खाने का ही फल है। पेशाब की शिकायत, अनेक रोगों का प्रकोप—सभी कुछ बातों की जड़ ये हलवाइयों की दूकानें ही हैं। गांव-गां के आदमियों को ये शिकायतें क्यों नहीं,—उनका प्रधान कारण यही है कि—उन लोगों को इन विष—लड्डू और कचौरियों का एकदम अभाव है।

आमिष और निरामिष भोजन।

यह तो हुए खाने-पाने के सम्बन्ध में प्राचीन साधारण नियम। इन नियमों में भी फिर अनेक मतामत प्राचीन काल से ही अबतक चले आते हैं। उनका समाधान अभी तक नहीं हुआ, विवाद

आमिष और निरामिष भोजन पर है। मांस भोजन उपकारक है या अपकारक है? अलावा इस के जीवहत्या न्याय है वा अन्याय, यह एक महा वितण्डावाद है। एक पक्ष कहता है—किसी कारण से भी हत्या रूपी पाप करना उचित नहीं, दूसरा पक्ष कहता है—"अपनी इस बात को दूर ही रक्खो, बिना हत्या किये तो प्राण बचा रखना भी कठिन है।" शास्त्र वादियों में भी महा गोलमाल है। शास्त्र एकवार कहता है—"यज्ञ के अवसर पर जीवहत्या करो, फिर कहता है जीवघात पाप है।" हिन्दुओं ने इसी के अनुसार अपना यह सिद्धान्त कर लिया कि—यज्ञ के सिवा अन्यत्र हत्या करना ठीक नहीं। लेकिन यज्ञ में सुख से मांस भोजन करो। यही क्या, गृहस्थ के लिये तो यहां तक कह दिया है कि—अमुक अमुक स्थान पर हत्या न करने से पाप होगा-उदाहरण रूप श्राद्धादि। ऐसे स्थान पर निमन्त्रित व्यक्ति यदि मांस न खांय तो अगले जन्म में पशु होय,—यह लेख मनु का है, दूसरी ओर जैन, बौद्ध और वैष्णव कहते हैं कि-हम तुम्हारे शास्त्रों को नहीं मानते, हत्या करना किसी प्रकार भी ठीक नहीं। बौद्ध सम्राट् अशोक-अगर यज्ञ में निमन्त्रित व्यक्तियों को मांस खिलायगा तो वह दण्डित होगा। आधुनिक वैष्णव किसी और ही असमंजस में हैं, वे कहते हैं-हमारे पूज्य राम और कृष्ण स्वयं मांसभक्षी हैं—रामायण और महाभारत में लिखा है वनगमन के समय सीता देवी मांस भोजन और हज़ार कलसी मद्य चढ़ाने की गंगाजी से प्रतिज्ञा करती हैं। लेकिन हमारी समझ में यह तत्त्व किसी गहरे विषय से सम्बन्ध रखता है। वर्त्तमान में लोग कुछ और ही कहते हैं। वे विलायती पण्डितों से कहते हैं—'मांस भोजन सर्वथा अयोग्य है, वह रोगोत्पादक है, निरामिष भोजी सदा नीरोग रहते हैं।' दूसरे लोग यानी विलायती कहते हैं-'तुम्हारी यह बात गप्प है, यदि ऐसा होता तो हिन्दू कभी रोगी न होते और अंगरेज़ अमेरिकन आदि

प्रधान प्रधान मांसाहारी जाति रोगों से नेस्तनाबूद होगई होतीं ।' एक पक्ष कहता है–'बकरा खाने से बकरों की सी बुद्धि हो जाती है, सुअर खाने से सुअरों की सी ।' दूसरा पक्ष कहता है–'गेहूं खाने से गेहुओं की सी बुद्धि होती है, आलू खाने से आलू सी ।' लेकिन जड़ बुद्धि की अपेक्षा चैतन्य बुद्धि होना अच्छा है । कैसी अच्छी दलीलें हैं, एक पक्ष कहता है जो बात मांस में है, वही अन्न में । अतः मांसत्यागी होकर शाकभोजी बनो । दूसरा कहता है–तो तुम हवा क्यों नहीं खाते, हवा में भी तो वही बात है। एक पक्ष कहता है 'निरामिष भोजी होने से ही अधिकांश भारतवासी, देखो न, कितना परिश्रम करते हैं ?' अपर पक्ष कहता है–'यदि ऐसा होता तो निरामिष जाति प्रधान होती, पर चिरकाल से मांसाहारी जाति ही बलवान और प्रधान है ।' मांसाहारी कहते हैं 'हिन्दू और बौद्ध भाइयो देखो, आप लोग घास फूस के खाने वाले हो, इसी से तुम्हारी इतनी दुर्दशा है, अतः मांस खाओ तुम्हारा समय पलट जायगा–तुम लोग सुखी बन जाओगे ।' और परिश्रम की जो बात कहते हो तो तुम खुद देख लो–'भारतवर्ष में डेढ़ लाख हिन्दुस्थानी सिपाही रहते हैं, बताओ उनमें कितने निरामिष भोजी हैं ? सब से अच्छे एवं बलवान गोरखा और पंजाबी सिपाही हैं, ये सब के सब मांसभोजी हैं ।' एक पक्ष कहता है–'मांसाहार बदहज़म है।' दूसरा कहता है सब झूठ, निरामिषाशी ही पेट के रोगी होते हैं, सच पूछो तो मांसाहारी लोग ही विशेष चिन्ताशील और युद्धवीर होते हैं ।' इसी लोभ से मांसाहारी मांस खाना नहीं छोड़ते । हमारे आर्य्य समाजी भाइयों में भी ऐसा ही विवाद उपस्थित है । एक पक्ष जो मांस पार्टी के नाम से देश में प्रसिद्ध है, कहता है—'मांस खाना अति आवश्यक है।' दूसरा कहता है–'अति अनावश्यक है, अति अन्याय है ।' यह सब तो रहा परस्पर का वाद विवाद । अब पक्षों को देखभाल कर हमने जो सिद्धान्त स्थिर किया है, उसे

सुनिये:—'हमारी समझ में हिन्दू ही ठीक हैं, अर्थात् हिन्दुओं की जन्म कर्म भेद से आहारादि विषयक सब व्यवस्थाएं पृथक् २ हैं। मांस खाना असभ्यता है, निरामिष भोजन महा पवित्र है। धार्मिक जीवन के लिये निरामिष भोजन ही ठीक है। और जो लोग सुख-भोग लिप्सा को ही स्वर्ग मानते हैं, अपने जीवन की अपेक्षा पशु-जीवन कम मूल्य का मानते हैं, वे भले ही-मांसाहार करें, उन से हमें कुछ नहीं कहना।'

फिर निरामिष भोजियों में भी विवाद होता है। एक पक्ष कहता है—'आलू, चावल, गेहूं, जौ और मक्का आदि शर्करा प्रधान खाद्य भी कुछ नहीं; इन सबको मनुष्य बनाता है और इन्हीं के खाने से रोगों की उत्पत्ति होती है। शर्करा उत्पादक Starchy खाना रोगों का घर है। गाय, घोड़े आदि पालतू पशु तक इनके खाने से रोगी हो जाते हैं; यदि उन्हें जंगल न भेजकर कच्ची घास न खिलायी जाय तो इसमें कोई शक नहीं कि बेचारों का कुछ ही दिनों में प्राणान्त हो जाय। शाक-पात आदि हरित सब्ज़ी में शर्करा उत्पादक पदार्थ बहुत कम हैं। वनमानुष जाति बादाम और घास खाती है, गेहूं आदि अन्न नहीं खाती; यदि खाती है तो अपक्क अवस्था में, जब Starch अधिक नहीं होता।' इत्यादि अनेक प्रकार के वितण्डावाद हो रहे हैं। एक पक्ष कहता है-'पका हुआ मांस, यथेष्ट फल और दूध ही दीर्घ जीवन को उपयोगी हैं। विशेष फल खाने वाले लोग चिरकाल युवा रहते हैं, कारण यह कि फल का अम्लरस हाड़ मांस पर जंग नहीं जमने देता।' अस्तु।

यह बात सर्वसम्मत है पुष्टिकर और शीघ्र पचनेवाला भोजन ही खाना श्रेष्ठ है। थोड़े परिश्रम से बहुत सी पुष्टि और शीघ्र पाक हो जाय ऐसा भोजन ही खाना चाहिये। जिस खाने में पुष्टि कम होती है, वही अधिक परिमाण में खाया जाता है, इसी

लिये उसके पचाने में भी सारा दिन ख़तम हो जाता है। यदि हज़म करने में ही सारी शक्ति चली गयी, बाक़ी काम कौन सी शक्ति करेगी।
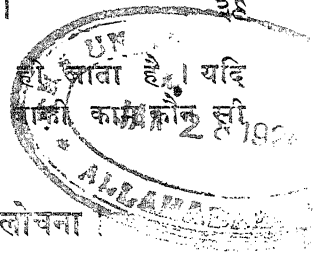
अपने देश के भोजन की आलोचना ।

भुनी हुई-तली हुई चीज़ें असल ज़हर से भी ज़्यादा हैं। हलवाइयों की दुकानें यमराज के घर हैं। घी तेल गर्म देशों में जितना कम खाया जाय, उतना ही अच्छा है। घी की अपेक्षा माखन जल्दी हज़म होता है। आटा वह खाना चाहिये, जिसमें गेहूं का सारा भाग हो। हमारे यहां के गांव-गोठों के खाने का ढंग बहुत सादा है। वहां के लोग सिवा मोटी रोटी के पूरी कचौरियों का खाना ही नहीं जानते। पुराने समय में भी उनका प्रचार नहीं था; अगर होता तो हमारे पुरातन संस्कृत ग्रन्थों में उनका उल्लेख होना चाहिये। हमारी समझ में पूरी कचौरियों का प्रचार विलायत से हुआ है। यहां भी ये चीज़ें अच्छे आदमी नहीं खाते, छोटी जातियां खाती हैं। हमारे यहां मथुरा के चौबे कुश्तीगीर-लड्डू कचौड़ी खाते हैं, फलतः दो चार साल के बाद ही उनका हाज़मा ख़राब हो जाता है, और चौबे जी चूरन चाटते चाटते मर जाते हैं।

ग़रीब लोग भोजन न मिलने से भूखे मरते हैं, धनी अखाद्य खा खा कर मरते हैं। इससे तो पेट भरने की अपेक्षा उपवास अच्छा है। हलवाइयों की दूकानों की चीज़ें पूरी विष हैं; पहले इन चीज़ों को असभ्य लोग खाते थे, अब शहर के लोग भी खाने लगे, विशेषकर परदेशी लोग। उन्हें तो इन्हीं चीज़ों के ऊपर अपना गुज़ारा करना पड़ता है। फलतः अजीर्ण होकर असाध्य रोगों के द्वारा अकाल मृत्यु हो जाती है। हमारी समझ में आप लोग बाज़ार की मिठाइयों को एक दम त्याग दें, और एक पैसे के परमल मोल

लेकर खा लें। वे सस्ते भी मिलते हैं और कुछ आधार भी होता है। दाल, आटा, रोटी, शाक और दूध यथेष्ट और अच्छा खाना है। लेकिन दाल को दक्षिणियों की भांति खाना चाहिये, अर्थात् दाल का रस्सा मात्र; बाकी गाय को दे दो। मसालों का खाना छोड़दो। दाल बड़ी पुष्टि देने वाली चीज़ है, लेकिन है बड़ी दुष्पाच्य। पेरिस में अड़द की दाल का बड़ा आदर है। कच्ची मटर अच्छी तरह पका कर; इसके बाद उसको पीसकर पानी में मिलालो। अनन्तर एक दूध छानने की चलनी की भांति तार की चलनी में छान लेने से ही उसके छुकले वगैरः दूर हो जावेंगे। फिर हल्दी, धनियां, जीरा, कालीमिर्च आदि से छोंकलो—तब एक उत्तम सुस्वाद और सुपाच्य दाल बन जायगी।

आजकल देश में पेशाब के रोग की बड़ी शिकायत है: कारण? अजीर्ण। दोचार आदमियों की सिर दर्द की शिकायत छोड़ बाकी, सब बदहज़्म हैं। हमारी समझ में नहीं आता कि लोगों ने खाने का अर्थ क्या समझ रक्खा है?—क्या नाक तक पेट भरलेने का ही नाम भोजन है? खाना उतना खाना चाहिये, जितना हज़्म होजाय। पेट आगे को निकल आना बदहज़्मी का पहला चिन्ह है। ज्यादा सूख जाना या ज्यादा मोटा हो जाना दोनों बातें ही ख़राब हैं। टांगों का मांस लोहे जैसा सख़्त होना चाहिये। पेशाब में चीनी या Albumen मालूम होते ही चुप मत बैठो। ये कोई ख़राब या भयंकर बीमारी नहीं और न हमारे देश की ही है। खाने की ओर विशेष ध्यान रक्खो, कभी अजीर्ण नहीं होगा। जहां तक हो खुली हवा में रहो। खूब फिरो, खूब परिश्रम करो। यदि नौकर हो तो जैसे हो सके छुट्टी लो और बदरिकाश्रम की यात्रा करो। वहां एक बार जाने आने मात्र से ही पेशाब की शिकायत दूर भाग जायगी। हकीम-डाक्टरों को पास मत फटकने दो, उन में से

अधिकांश स्वस्थ्य बनाने की अपेक्षा और बीमार बना देंगे। जहाँ तक हो औषधि एकदम मत खाओ। रोग से यदि 'एक बिघे मरोगे तो दवा से सौ बिघे'। यदि हो सके तो साल भर की छुट्टियों में विदेश भ्रमण करो। धन होने पर तुम बादशाहों से भी अच्छे रह सकते हो, पर ऐसे मत बनो कि जाना आना तो एक तरफ़, खाना भी दूसरों के हाथों से खाने लगो; तब तो तुम अच्छी हालत में भी बीमार हो। अस्तु।

आजकल डबल रोटी और बिस्कुट खाने का रिवाज़ भी देश में धीरे धीरे प्रचलित होता जाता है। लेकिन वे ज़हर से भी ज़्यादह ख़राब हैं। ख़मीर पैदा हो जाने से आटा कुछ से कुछ हो जाता है। हमारे शास्त्रों में ख़मीरदार पदार्थ खाने का एकदम निषेध है। यदि विचार करके देखा जाय तो यह निस्सन्देह ठीक है। शास्त्र में तो मीठी चीज़ को खट्टी बना कर खाना मना है,—केवल दही छोड़ कर। दही अति उपादेय और अति उत्तम वस्तु है। यदि तुम्हें डबल रोटी बहुत ही रुचिकर हो तो उसे दुबारा आग पर सेंक लो। अशुद्ध जल और अशुद्ध भोजन रोग का कारण है। अमेरिका में आजकल जल-शुद्धि की बड़ी धूम मच रही है। 'फिल्टर वाटर' के दिन अब गये, आजकल तो पानी को कुछ गरम मात्र कर देते हैं, पर रोग-बीज, जो उनमें सदैव रहते हैं—जैसे हैज़े और प्लेग के कीटाणु—वे जैसे के तैसे ही रहते हैं। ज़्यादातर तो फ़िल्टर स्वयं इन बीजों की जन्म भूमि होता है। कलकत्ते में जब पहले ही फ़िल्टर किये जल का प्रचार हुआ तो चार पांच वर्ष तक हैज़ा वगैरः नहीं हुआ। इस के बाद फिर वही हालत होगई, अर्थात् वे फ़िल्टर महाशय स्वयं ही हैज़े के बीजों के निवासस्थान बन गये। हमारी समझ में कोयला, बालू और फिटकरी से जो जल साफ़ किया जाता है, वह सब की अपेक्षा अच्छा है। फिटकरी

पानी के सब विकारों को नीचे बैठा देती है। और सब से सुन्दर पानी गंगा आदि नदियों का है। उसकी समता फिल्टर–उल्टर कोई भी नहीं कर सकता। हां, इतनी बात अवश्य है कि साफ़ किया पानी निडर व्यवहृत किया जा सकता है। आजकल अमेरिका में बड़े बड़े यंत्रों से जलको एकदम भाप बनाकर फिर उसे जल किया जाता है। इसके बाद और एक यंत्र के द्वारा विशुद्ध वायु उस में भर दी जाती है, जो भाप बनकर फिर उड़ जाती है। वह पानी अति शुद्ध होता है। आज कल वहां घर घर में उसी का व्यवहार है।

हमारे देश में जिन के पास दो पैसे हैं, जो जनता में रईस के नाम से प्रसिद्ध हैं, वे अपने बच्चों को नित्य हलुआ पूरी ही खिलाया करते हैं!! दाल रोटी देना उनके लिये अपमान की बात है!! तो अब बताओ वे क्यों न गद्दर-गोले और बेढब पेटू बनें? इतनी बलावान् अंग्रेज जाति, लेकिन वे लोग भी बाज़ार की मिठाई और हलुआ पूरी जैसी चीज़ों से घबड़ाते हैं, जो दिन रात बर्फ़ में रहते हैं उन्हें दिन रात कसरत करना ही मुख्य काम है!! और हम सदैव अग्नि कुण्ड में रहते हुए भी एक घर में बैठे रहने के कारण दूसरे में नहीं जाना चाहते और तिस पर भी लड्डू-कचौरी तथा तरह तरह की मिठाई से ही पेट भरते रहते हैं?? पुराने ज़माने में गांव-गोठ के बड़े बड़े जमींदार बात की बात में दश कोस घूम आते थे, दिन भर पैदल फिरने के कारण उनकी जठराग्नि हर समय दीप्त रहती थी। अब उन्हीं की सन्तान बड़े बड़े शहरों में आ बसने के कारण शौक़ीन हो गयी। बिना चश्मा लगाये बाहर निकलना दुश्वार, अमीरी ज़ाहिर करने वाला घी में तला हुआ खाना, गाड़ियों में फिरना और फिर इन सब से बढ़कर पेशाब का रोग! कलकतिया और बम्बइया बनने का यह परिणाम! सच पूछो तो सब

से ज़्यादः सर्वनाश करने वाले ये वैद्य और डाक्टर हैं । उन्हें घमंड है कि हम सर्वज्ञ हैं, औषधि के ज़ोर से एक बार यमराज को भी भगा सकते हैं । 'ज़रा पेट में दर्द हो रहा है औषधि दीजिये' अभागे हकीम जी भी यह नहीं कहते कि 'औषधि मत खाओ केवल दो कोस का चक्कर लगा आओ !' लोग अनेक देशों का अवलोकन करते हैं, वहां के रीति रिवाज़ देखते हैं, पर अपने देश के आहारादि की तुलना कर उसका उत्कर्ष उपलब्ध नहीं करते । इसी से तो कहना पड़ता है, आप लोग दांत होते हुए भी दांतों की मर्य्यादा नहीं समझते । क्या अंग्रेज़ी खाना अच्छा लगता है ?—लेकिन उतना रुपया भी है ? यदि नहीं हैं तो फिर अच्छा और बुरा क्या ? याद रक्खो जो मनुष्य जिस देश में पैदा होता है उसके लिये उस देश का जल वायु और आहार उपयोगी है ।

विलायती भोजन ।

देशी खानपान के सम्बन्ध की बात तो हो चुकी । अब, विलायती लोग क्या खाते हैं और उनका भोजन किस तरह बदलता जाता है—इस बारे में कुछ कहना है ।

ग़रीब अवस्था में सब देशों का खाना ही एक धान्य विशेष है, और शाक तरकारी, मद्यमांस तो भोग-विलास की सामग्री क भांति, चटनी की तरह व्यवहृत होते हैं । जिस देश में जिस अनाज की प्रधान उपज है, ग़रीबों का मुख्य भोजन वही है, अन्यान्य वस्तुएं गौण हैं । जिस प्रकार मद्रास, उड़ीसा, बंगाल और मालाबार के प्रदेशों में चावल प्रधान खाद्य है और दाल तरकारी (बंगाल में) मद्य मांस चटनी की भांति काम में लाया जाता है ।

भारतवर्ष के अन्यान्य युक्त प्रदेशादि सर्व देशों में अवस्थापन्न लोगों के लिये गेहूं की रोटी और चावल; साधारण लोगों का

प्रधान भोजन अनेक प्रकार के धान्य—बाजरा, मडुआ, मक्का और चना आदि ही हैं।

शाक, तरकारी, दाल, चटनी आदि सब चीज़ें सारे भारत में, रोटी या भात को सुस्वाद बनाने के लिये काम में लाई जाती हैं। इसीसे उनका नाम व्यञ्जन है। यही नहीं, पंजाब राजपूताना और गुजरात या महाराष्ट्र देशों में अवस्थापन्न आमिष भोजी लोग यहां तक कि राजा लोग भी—यद्यपि नित्य अनेक प्रकार के आमिष भोजन करते हैं तथापि रोटी या भात उनका प्रधान खाद्य है। जो व्यक्ति नित्य आध सेर मांस खाता है, वह एक सेर रोटी भी उसके साथ अवश्य खाता है।

यूरोप के देशों में भी जितने निर्धन मनुष्य रहते हैं, उनका प्रधान खाद्य भी इसी प्रकार की रोटी भात या आलू ही है। स्पेन पोर्तगाल इटाली आदि अपेक्षाकृत ऊँचे देशों में यथेष्ट अंगूर होते हैं। इसीसे वहां द्राक्षारस बहुत सस्ती है। उसमें नशा नहीं होता और वह पुष्टिकर भी है। उन देशों के लोग इसीलिये मत्स्य मांस नहीं खाते और उनके स्थान पर इस द्राक्षासव द्वारा ही पुष्टि लाभ करते हैं। किन्तु रसिया, स्वीडन, नार्वे आदि उत्तरी देशों में दरिद्र लोगों का आहार प्रधानतः 'राइ' नामक धान्य की रोटी और कभी कभी मत्स्य मांस या आलू ही है।

यूरोप के अवस्थापन्न लोगों और अमेरिका के आवाल वृद्ध वनिताओं का खाना और ही प्रकार का है, अर्थात् वे रोटी भात आदि को चटनी की भांति। और मद्य-मांस आदि को प्रधान भोजन की तरह खाते हैं। और अमेरिका में रोटी का खाना एक दम नहीं ही कहा जा सकता है। बस निरे मांस से ही पेट भरते हैं। एवं इसीलिये प्रत्येक बार उनका थाल बदला जाता है। यदि दश

खाने की चीज़ हैं तो दस ही बार थाल बदला जायगा। उदाहरण रूप समझ लो—हमारे देश में पहले केवल खिचड़ी खाते हैं, फिर दाल भात और सब से बाद को दाल और रोटी। इस तरह खाने से कई लाभ हैं—'एक तो यह है कि थोड़ा थोड़ा करके सब पदार्थों का रस चख लिया जाता है और पेट में बोझा भी कम होता है। फ्रांस में चाल है कि वहां के लोग पहले अर्थात् सुबह को तो पियेंगे काफी और आधा टुकड़ा मक्खन से लिपटी रोटी; दुपहर के समय मद्य-मांस और रात को खूब पेटभर कर सब का गोलगप्प। इटाली, स्पेन आदि, जातियों में भी इसी प्रकार की चाल है। जर्मन लोग दिन भर में क्रमानुसार पांच बार खाते हैं, हर एक बार के खाने में थोड़ा बहुत मांस अवश्य होना चाहिये। अंग्रेज तीन बार, सुबह को बहुत थोड़ा बीच बीच में काफी या चाय अवश्य पीनी पड़ती है। अमेरिकन तीन बार भोजन करते हैं, पर करते उत्तम भोजन—मांस प्रचुरता के साथ होता है—लेकिन उपरोक्त देशों में 'डिनर' प्रधान खाद्य है। बहुत धनी हुए तो वे फ्रांसीसियों की चाल पर चलने लगते हैं। पहले आधापर्या सामान्य सा मत्स्य मांस या किसी प्रकार की चटनी सबज़ी। इनके खाने से भूख बढ़ती है। इसके बाद दाल; इसके बाद आजकल के फैशन के मुआफिक थोड़े से फल, इसके बाद मांस, फिर मांस की तरकारी, साथ साथ में कच्ची सब्ज़ी, अनन्तर फिर वन-पशु-मांस जैसे हिरन पक्षी आदि, फिर मिष्टान्न, आखीर में कुल्ला—बस 'मधुरेण समापयेत्।' बहुत अमीर हुए तो थाल बदलने के साथ २ शराब का प्याला भी बदल गया। थाल बदलने के साथ २ कांटे चम्मच भी बदलते हैं। भोजन के बाद काफ़ी—बिना दूध की; आसवमद्य खूब प्याले भर भर के पीते हैं। भोजन के भेदों के साथ मद्य-भेद के देखने से ही छोटे बड़े का ज्ञान हो जाता है। यदि हमारे देश के साधारण लोग एक बार भी उनकी नक़ल करें तो सर्वस्वान्त होजाय।

आर्य्य लोग काठ की चौकी पर बैठ कर भोजन करते थे एवं उनके भोजन की सामग्री एक थाली में ही रक्खी होती थी। यह चाल अब भी पंजाब, राजपूताना, महाराष्ट्र और गुर्जर देशों में प्रचलित है। बंगाली, उड़िया, तैलगू, मालाबारी आदि ज़मीन पर बैठ कर ही भोजन करते हैं। मैसोर के महाराज कभी मेज़ कुर्सी पर नहीं खाते, ज़मीन पर बैठ कर ही भोजन करते हैं। मुसलमान चादर बिछा कर खाते हैं। बर्म्मी, जापानी आदि ऊंचे स्थान पर बैठ और भोजन की सामिग्री ज़मीन पर रखकर खाते हैं। चीनू टेबिल पर खाते हैं। रोमन और ग्रीक कौंच पर लेट कर और टेबिल पर भोजन रख कर खाते हैं। यूरोपी कुर्सी पर स्वयं बैठ और टेबिल पर सामग्री रखकर कांटे चम्मच से खाते हैं।

इतिहास के देखने से मालूम होता है कि सब जातियों के आदिम पुरुष पहली अवस्था में जो कुछ पाते उसे ही खा जाते थे। एक जानवर मार लिया और एक महीने के खाने से निबट गये; सड़ जाने पर भी उसका पीछा नहीं छोड़ते थे। क्रमशः सभ्यता का विकास हुआ। खेती बाड़ी होने लगी। लोग, वन-पशुओं की भांति एक दिन 'नाक-तक' खालेते और पांच छः दिन भूखे रहते। भोजन इकट्ठा होने लगा। पर बासी और सड़ी वस्तुओं का खाना तब भी दूर नहीं हुआ था।

एस्कुइमॉ जाति बर्फ़ में रहती है। अन्न, उस देश में क़तई नहीं होता। वहां मछली और मांस का ही भोजन होता है। १०-१५ दिन बाद अरुचि मालूम होने पर, एक दो गस्सा बासी मांस खालेते हैं। अरुचि दूर हो गयी।

अब भी बहुत से यूरोपी जंगली पशु पक्षियों का मांस बासी करके ही खाते हैं। वे लोग उसे तब तक अच्छा नहीं समझते कि

जब तक सड़ नहीं जाय !!! निरामिष भोजी लोग,—हमने देखा है बाज बाज मौकों पर बिना प्याज और लहसुन के खाना ही नहीं खाते, विशेष कर दक्षिणी ब्राह्मण। शास्त्रकार तो इस भोजन को भी बहुत बुरा बताते हैं। उनके कथनानुसार जिस तरह मांस भोजन से जाति दूषित और सर्वनाश को प्राप्त हो सकती है, उसी प्रकार प्याज लहसुन से भी जाति नाश हो सकती है !!

भोजन सम्बन्धी विधि-निषेध का तात्पर्य्य।

पृथ्वी भर के समस्त धर्म्मों में खाने-पीने के सम्बन्ध में एक प्रकार का विधि-निषेध है—नहीं है, तो केवल क्रिश्चियन धर्म्म में। जैन और बौद्ध मत्स्य मांस नहीं खाते। और जैन तो मांस खाना तो एक तरफ़ ज़मीन के भीतर होने वाली चीज़ें जैसे आलू, मूली, जमींकन्द और घुइयां आदि तक नहीं खाते। उनके यहां रात्रि में भोजन करना तक निषिद्ध है।

यहूदी लोग जिस मछली में रेशा नहीं होता है उसे नहीं खाते, सुअर नहीं खाते; जो जानवर दो खुर वाला नहीं है और जो किसी को तकलीफ़ नहीं देता, कभी नहीं खाते। फिर सबसे बड़ी बात यह है कि वे दूध और दूध से पैदा हुई वस्तु, जो बिना ढकी रखी हो, रसोई में से उठाकर फेंक देते हैं। अलावा इसके हिन्दू शास्त्रों के कथनानुसार यहूदी लोग वृथा मांस नहीं खाते। जिस तरह बंगाली और पंजाबी लोग मांस को महाप्रसाद कहते हैं, यहूदी लोग भी उसी प्रकार महाप्रसाद अर्थात् यथा नियम बलिदान न कर मांस नहीं खाते। इसीलिये हिन्दुओं की भांति यहूदियों को भी जब तब ख़रीद कर खाने का अधिकार नहीं। मुसलमान यहूदियों के बहुत से नियमों का पालन करते हैं। उदाहरण स्वरूप—'दूध और मत्स्य मांस का एक साथ न खाना।' खाने पीने के सम्बन्ध

में यहूदी हिन्दुओं के साथ बहुत कुछ मेल खाते हैं। एवं बंगाल से काश्मीर और हिमालय तक एक सी चाल है। मनु की कही हुई खाने की प्रथा आज तक उस अंचल में भी किसी न किसी रूप में विद्यमान है।

किन्तु कुमायूं से आरम्भ कर काश्मीर तक, बंगाली-बिहारी, युक्त प्रदेशी और नैपालियों की अपेक्षा-मनुके आईन का विशेष प्रचार है। खाने पीने के सम्बन्ध में अभी तक यहां पर मनु के विधि निषेध पर ध्यान रक्खा जाता है; इसी से भारतवर्ष में आजकल खान-पान के रंग-ढंग मिलते जुलते देख पड़ते हैं।

उपरोक्त विधि निषेध में स्वास्थ्य का ख़्याल किया गया है, इस में कुछ सन्देह नहीं। "मांस मत खाओ,-बुरी वस्तु का व्यवहार मत करो"-इत्यादि वाक्यों के मूल में एक गूढ़ तत्त्व छिपा हुआ है। शास्त्रकार पुरुष, विद्वान् थे, वे जानते थे कि भारतवर्ष के आद-मियों को मांस माफ़िक नहीं पड़ सकता। भारत पूर्ण-प्रकृति सम्पन्न है। जहां प्रकृति की कमीबेशी है, वहां ही खाने पीने में भेद है। भारतीय मनुष्यों के शरीर में वे परमाणु नहीं जो मांस आदि गुरु-पाक द्रव्यों को सहज ही में हज़म करलें। पहले यहां के लोग असभ्य थे। पढ़ना लिखना नहीं जानते थे; जभी उनमें विद्या का प्रवेश हुआ तभी अपने पूज्य पाद महर्षियों के विधि ग्रन्थों का अवलोकन करने से उन्हें मालूम होगया कि अमुक प्रकार जीवन व्यतीत करने से हमारा कल्याण है। फिर शास्त्रों ने भी ज़माने की रफ़्तार को देखकर ही यह व्यवस्था की है, जिस वस्तु का हम मूर्खता वश चिरकाल से व्यवहार करते आ रहे हैं, और वह हमारी अस्थि मज्जागत होगई। उसका एकदम छूटना हमारे लिये असम्भव और हानिकर है। शास्त्रकारों ने वहीं एक नियम बांध दिया। नियमानुसार चलने से वस्तु की उपकारिता और

अनुपकारिता का ज्ञान हमें कुछ ही दिनों में हो जाता है और तबही हम त्याज्य वस्तु को त्याग देते और ग्राह्य वस्तु का ग्रहण कर लेते हैं।

दूध एक बहुत अच्छी चीज़ है, लेकिन जब पेट में अम्ल की अधिकता हो और दूध पी लिया जाय तो उपकार होना तो एक ओर, उल्टे लेने के देने के पड़ जांय। और यही नहीं, ऐसे समय एक दम एक ग्लास दूध पीने से तत्काल मृत्यु हो जाती है। इसी से विद्वान् डाक्टरों ने कहा है कि "ज़्यादा दूध पीना अच्छा नहीं, यदि पीओ तो एक घण्टे में केवल पाव भर दूध; पीने का ढंग बच्चों जैसा होना चाहिये। तभी शरीर का उपकार होगा" जो माताएं अपने बच्चों को लाड़ के कारण ज़रा ज़रा देर में दूध पिलाती हैं उन्हें भी कुछ दिनों बाद सिर पकड़ कर रोना पड़ता है। अब देखिये, जब दूध जैसे पदार्थ के लिये इतना कड़ा नियम है तो मांस आदि के लिये तो विचारने की बात है। शास्त्रों का नियम बड़े मूल्य का है।

कपड़ों से सभ्यता का प्रकाश।

सब देशों के ओढ़ने पहनने के ढंग के साथ कुछ न कुछ भद्रता का सम्पर्क अवश्य है। लोग कहा करते हैं कि 'बिना वेतन के जाने रुतबे का जानना कठिन है।' केवल वेतन ही क्यों 'बिना वेश-भूषा के भद्र अभद्र का ज्ञान भी कठिन है।" हमारे देश में अब नंगे देह सरे बाज़ार घूमना असभ्यता है। भारत के अन्यान्य प्रदेशों में और कुछ न सही केवल धोती और पगड़ी का पहनना ही भद्रता का चिह्न है। यूरोप में अन्यान्य देशों की अपेक्षा फ्रांसीसी सब विषयों में अग्रणी हैं। अधिकांश योरोप खाने पीने, पहनने ओढ़ने में उन्हीं की नकल करता है। अब भी यूरोप के भिन्न भिन्न देशों में विशेष विशेष पोशाकें विद्यमान हैं। किन्तु भद्रता प्रवेश होते ही, दो पैसों

के आते ही पुराना पहरावा अन्तर्हित हो जाता है और फरासी पोशाक आविर्भूत हो जाती है। बहुत दिन नहीं हुए, जब होलेन्डीज़ कल्टिवेटर लोगों को काबुली पाजामा अच्छा लगता था, ग्रीक घाघरा पहनते थे, रसियन तिब्बती पोशाक पसन्द करते थे। लेकिन जैसे ही उन्हें 'भद्र' शब्द सुनाई दिया, वैसे ही फरासी कोट पेन्ट के फेर में आगये। स्त्रियों की तो कुछ बात ही नहीं, पैसा पास होते ही उन्हें पैरिस की पोशाकें मँगाने की धुन लग जाती है। अमेरिका, इङ्गलैण्ड, फ्रांस और जर्मनी, ये आजकल धनिक जाति कहलाती हैं, उन सब की पोशाक एकही सी है—अर्थात् फरासीसी लोगों की नक़ल है। लेकिन आजकल पैरिस की अपेक्षा लन्दन के आदमियों की पोशाक अच्छी मालूम होती है, इसी से पुरुषों की 'लन्दन मेड' और स्त्रियों की पोशाकें 'पैरिस मेड' होती हैं। जिन के पास अधिक धन है, वे इन दोनों स्थानों से ही पोशाकें तैयार कराते हैं। अमेरिका विदेशी पोशाकों पर खूब महसूल जमाता है। लेकिन लोग बाज नहीं आते। दूना चौगुना महसूल देकर भी 'पैरिस मेड' और 'लन्दन मेड' ही पोशाकें पहनते हैं। इतनी हिम्मत अमेरिकनों की ही है। इसी से तो अमेरिका आज कल कुबेर का प्रधान अड्डा कहा जाता है।

प्राचीन आर्य्य जाति के लोग धोती और चादर पहनते थे; क्षत्रियोंमें पायजामे और जामे का व्यवहार होता था। लेकिन पगड़ी सभी पहना करते थे। बहुत पुराने समय में यहां स्त्री पुरुष सभी पगड़ी का व्यवहार करते थे। शरीर चाहे भले ही नंगा रहे, सिर पर पगड़ी का होना अत्यावश्यक है। अब भी बौद्धों के ज़माने में बनी, जितनी भास्कराचार्य्य की मूर्त्ति देखी जाती हैं, उनमें अधिकांश कौपीन धारी ही हैं। कहा जाता है कि बुद्ध देव के पिता और माता राज-सिंहासन पर बैठते समय भी एक कौपीन और पगड़ी पहना

करते थे । सम्राट् धर्माशोक धोती पहन कर दुपट्टा ओढ़ कर एक डमरू के आकार वाले राज-सिंहासन पर बैठ कर नर्त्तकियों का नाच देखा करते थे। लेकिन राजसभा में बैठनेवाले अन्यान्य सामन्त वही चुस्त पायजामा और जामा पहनते थे। महाभारत में लिखा है कि सारथी राजा नल ने ऐसे वेग से रथ चलाया कि ऋतुपर्ण के शरीर की चादर उड़ कर दूर जा पड़ी। राजा ऋतु-पर्ण नग्नावस्था में ही विवाह करने गये । धोती चादर, आर्य्यों की पुरानी पोशाक है, इसीलिये हिन्दू लोग पूजा व अन्य धार्मिक कृत्यों के समय धोती और दुपट्टा ही पहना करते हैं।

प्राचीन ग्रीक और रोमन लोगों की भी पोशाक धोती और चादर ही थी। उस चादर को उनकी भाषा में 'तोगा' कहते हैं; सम्भवतः हमारे यहां का आधुनिक प्रचलित 'चोगा' इसी का अपभ्रंश है। लेकिन युद्ध के समय वे लोग भी हमारे क्षत्रियों की भांति चोगा और पायजामा ही पहनते थे। उनकी स्त्रियों का पह-नावा ठीक हमारे यहां की उत्तराखण्ड में रहने वाली पहाड़ी जाति के कम्बल पहनने के सदृश है। वे उस पोशाक को पहने हुए बड़ी अच्छी मालूम होती हैं।

कपड़े को चीर फाड़ कर और सीं कर पहनने वाली पुरानी जाति ईरानी ही है। मालूम होता है यह ढंग उसने शायद चीन जाति से सीखा था। चीन लोग सभ्यता अर्थात् भोग-विलास की सुख-स्वच्छन्दता के आदि गुरु हैं । अनादिकाल से चीन टेबिल पर खाते हैं, चेयर पर बैठते हैं, खाते समय छुरी कांटे का व्यवहार करते हैं, सीं हुई कटी फटी पोशाक पहनते हैं।

जिस समय सिकन्दर शाह ईरान को जीत कर धोती चादर को फेंक पायजामा पहनने लगा, उस समय उसकी स्वदेश-प्रिय

सेना विद्रोह मचाने को तैयार होगयी; किन्तु सिकन्दर ने उनकी कुछ परवाह न कर पायजामे का प्रचार कर ही दिया।

गरम देशों में कपड़ों की विशेष आवश्यकता नहीं होती। लज्जा का निवारण कौपीन मात्र से ही हो सकता है, बाकी तो सब शोभा मात्र ही है। ठण्डे देशों में लोग पहले शीत की चोट से अस्थिर असभ्य अवस्था में, जानवरों की खाल पहना करते थे; क्रमशः कम्बल पहनने लगे, फिर कपड़ों की भी बारी आगई। शरीर सुन्दर मालूम होने लगा। तब उन्हें अधिक शोभा बढ़ाने के लिये आभूषणों की भी आवश्यकता प्रतीत हुई, पर देश ठण्डा है, एक दफ़ा बिना गहना पहने काम चल सकता है, पर बिना कपड़ा पहने कार्य्य चलना असम्भव है। अतः अलंकार-प्रियता, कपड़ों में जा छिपी। जिस तरह हमारे देश में गहनों में फैशन का निवास है, उसी प्रकार यूरोप में घड़ी घड़ी कपड़े बदल कर फैशन दिखाया जाता है।

ठण्डे देशों में इसीलिये बिना कपड़े पहने बाहर निकलना असभ्यता है। ख़ास कर विलायत में विलायती लोग, मन के माफ़िक कपड़े न पहन कर सब के सामने जाना पाप समझते हैं। यूरोप में स्त्रियों का हाथ पांव दिखाना लज्जा का काम है, गला और हृदय का कुछ हिस्सा भलेही उघड़ा रहजाय। हमारे देश में मुंह दिखाना बुरा समझते हैं। राजपूताना और हिमाचल की स्त्रियां, मुंह खोले नहीं रहतीं, पेट और पीठ भले ही दीख जाय।

यूरोपीय देशों की नर्त्तकियां नाचते गाते समय अपने शरीर के ढकने उघड़ने का ख़्याल नहीं करतीं। हमारे यहां यह बात बुरी समझी जाती है। लोग भले ही धोती और दुपट्टा पहने संसार खूंद आवें, पर स्त्री बिना अपनी पूर्ण साज-सज्जा के बाहर निकलना अपमान समझती हैं।

विलायत में हमारे यहां की स्त्रियों* की भांति मर्द भी अन्य लोगों के सामने बेरोक नंगे हो जाते हैं। वहां लड़का बाप के सामने नंगा होकर स्नानादि करे, कुछ दोष नहीं। लेकिन स्त्रियों के सामने, आम रास्ते पर, और अपने घर को छोड़ सर्वत्र शरीर ढका होना चाहिये।

एक चीन देश को छोड़ बाकी सब देशों में इस लज्जा के सम्बन्ध में बड़े अद्‌भुत २ विषय देखने में आते हैं। कहीं कहीं तो लज्जा की मात्रा बढ़ कर सातवें आस्मान पर पहुंच गयी है और कहीं जहां लज्जा करने के मौके हैं, नाममात्र को भी लज्जा नहीं। चीन में स्त्री या पुरुष सब सिर से पैर तक ढके रहते हैं। वहां बुद्ध के चेले नीति में बड़े दुरुस्त हैं। अपने घर के लोगों को खराब चाल चलते देख, वे निःसंकोच सजा दे डालते हैं। ईसाई लोगों ने जब अपनी धर्म्म पुस्तक बाइबिल को चीनू भाषा में छपवाया, तो वहां के लोग उसे पढ़ पढ़ कर बेहद चिढ़ उठे। बोले इस देश में इस पुस्तक का चलना कठिन है—अति दुस्तर है। ये तो बड़ी वाहियात किताब है। बात यह थी कि—उसके मुख पृष्ठ पर एक नग्न-हृदया स्त्री का चित्र था। चीनू लोग उस समय स्थूल बुद्धि थे, इसी से वहां ईसाई मत का प्रचार न हो सका। वर्ना वे लोग किसी धर्म विशेष पर आघात करने वाले नहीं हैं। सुना है अब पादरियों ने उस चित्र को हटा दिया है, पर उस से वे लोग और सन्देह में पड़ गये हैं।

फिर इन पाश्चात्य देशों में तो, देश विशेष से लज्जा और घृणा का तार-तम्य है। अंग्रेज़ और अमेरिकनों की लज्जा और शर्म एक ही ढंग की है। फ्रांसीसियों की और तरह की है। जर्म्मन भिन्न

---

* स्त्रियां स्त्रियों के सामने नंगी होने में लाज नहीं करतीं।

प्रकार की ही लज्जा समझते हैं । रूस और तिब्बत इस विषय में बहुत कुछ मेल खाता है । टर्की और ढंग से लज्जा मानता है । इत्यादि ।

चालचलन ।

हमारे देश की अपेक्षा यूरोप और अमेरिका में मलमूत्रादि त्याग करने में बड़ी लज्जा है । हम लोग निरामिष भोजी हैं; घास पात खाते हैं । फिर हमारा देश भी खूब गरम है, प्रतिक्षण पानी पीने को तबीअत चाहती है। और विलायती लोग शीत-देश वासी हैं, कई बार भोजन करके भी पानी नहीं पीते । फिर हमें पेशाब की हाजत अधिक क्यों न हो, इतना जल कहां जावेगा? गाय, बैल और निरामिष भोजी पशुओं की ओर ध्यान से देखो !

कुत्ता और बकरी को ले लीजिये । कुत्ता मांस भोजी है और बकरी है निरामिषाशी । यूरोप का भोजन मांस युक्त है; इसलिए थोड़ा है, फिर वह ठण्डा देश है—अधिक जल पीने की वहां आवश्यकता भी नहीं । वहां के भद्रलोग प्रतिक्षण प्यास लगने के समय एक ग्लास मद्य पिया करते हैं। फ्रांसीसी लोग भी पानी को ज़्यादा, पीने आदि व्यवहार में नहीं लाते। हां, अमेरिकन पानी पीते हैं और खूब पीते हैं। कारण कि वहां यथेष्ठ गर्मी है; न्यूयार्क कलकत्ता बम्बई की अपेक्षा भी गर्म है । और जर्मन तो पानी का काम 'बीयर' से ही लेते हैं।

विलायती लोग पानी नहीं पीते, इसलिये उन्हें हिचकी वा डकार कुछ नहीं आती; और हमारे यहां खाते वक्त पानी पिया जाता है, इसलिये अधिक डकारों का आना अनिवार्य्य है । पर विलायती लोग इसे एक प्रकार से बे अदबी समझते हैं । उनका खाते वक्त रूमाल में झड़ झड़ करना तो सभ्यता में दाख़िल है; उससे तो

नाममात्र को घृणा नहीं होती, पर डकार लेना असभ्यता है!! अच्छा भाई आजकल की सभ्यता ही तो है!

इङ्गलेण्ड और अमेरिका के लोग, स्त्रियों के सामने मलमूत्रादि त्याग करना बुरा समझते हैं। यदि पायखाने जाना होगा तो चोरीसे। पेट के रोग स्त्रियों के सामने कहने से पाप होता है। हां बूढ़ी-बड़ी की बात अलाहिदा है। स्त्रियां मौक़े पर मलमूत्र का वेग रोक लेंगी, पर पुरुषों के सामने उसका नाम लेने से बेअदबी समझी जायेगी।

पर फ्रांस में इतना कड़ा क़ानून नहीं है। वहां स्त्रियों के पेशाब घर के पास ही पुरुषों के पेशाब घर हैं। केवल उन के प्रवेश द्वार भिन्न भिन्न हैं। बाज़ बाज़ मौक़ों पर तो हमने यहां तक देखा है कि स्त्री पुरुष दोनों ही एकत्र थोड़े से फ़ासिले पर मल त्याग करते हैं। जर्म्मनी में इस से कम लज्जा है।

अङ्गरेज़ और अमेरिकन लोग स्त्रियों के सामने बड़ी सावधानी से बातचीत करते हैं। वहां मुंह फाड़कर हँसना भी अभद्रता है। पर फ्रांसीसी और जर्म्मनी हमारी भांति ही मुंह खोलकर हँसते हैं। रसियन लोग भी इस प्रकार हँसने में असभ्यता नहीं समझते।

लेकिन प्रणय-प्रेम की बात, बेरोक सब के सामने—यहां तक कि बाप बेटे से, भाई बहिन से कह सकता है। वहां इस विषय में कुछ लज्जा नहीं। बाप, कन्या के प्रणयी (भविष्यत् वर) की बात अनेक प्रकार के हँसी-ठट्ठों के साथ, खास कन्या से पूछता है। फ्रान्सीसी कन्या उसे सुनकर नीचा मुंह कर लेती हैं, अँगरेज़-कन्या लज्जा करती हैं और मार्किनों की लड़कियां चटपट जवाब दे देती हैं। विलायत में चुम्बन और आलिंगन तक में दोष नहीं समझा जाता। अमेरिकन परिवारों में तो भाईबन्धु तक घर की स्त्र

का सेकहैण्ड के स्थान पर चुम्बन कर लेते हैं। हमारे देश में बड़े आदमियों के सामने प्रेम और प्रणय की गन्ध भी नहीं आने देते।

यूरोपीय लोग रुपये वाले हैं अति परिष्कृत और सुन्दर वस्त्र न पहनने वाला झट छोटा आदमी कहा जाने लगे—उस बिचारे को समाज के अन्दर प्रवेश करना तक पाप हो जाय। भद्र लोग वही कहा जा सकता है जो नित्य आठों पहर साफ़ सुन्दर कपड़े पहने। ग़रीब बिचारे इतने कपड़े कहां से ला सकते हैं, पर ऊपर के कपड़े पर एक दाग़–एक धब्बा–देख पड़ने से ही मुश्किल है। और गर्मी पड़ रही हो, गर्मी की घबड़ाहट से नाकों दम आ रहा हो, पर बाहर जाना पड़े तो दस्ताने और मोजे पहन कर। न पहनने से हाथ मैले हो जायंगे और वैसे हाथों से किसी स्त्री के साथ हाथ मिलाना असभ्यता है। सभ्यसमाज में बैठ कर खांसना खकारना, हाथ मुंह धोना और कुल्ला करना भी चाण्डालत्व है !!

पाश्चात्य धर्म्म शक्ति पूजक है।

विलायती लोगों का धर्म, शक्ति की पूजा करना है, वाममार्ग और पाश्चात्य-धर्म्म में केवल थोड़ा सा ही फ़र्क़ है अर्थात् वहां पञ्च मकार की उपासना नहीं, बाक़ी सब वही है। "वामे वामा ···दक्षिणे पान पात्रं···अग्रे न्यस्तं मरिच सहितं शूकर स्योष्णमांसं··· कौलोधर्म्मः परम गहनो योगिना मप्यगम्यः।" भीतर वामाचार और बाहर शक्ति पूजा में मातृभाव। प्रोटेस्टैन्ट तो यूरोप में कुछ थोड़े से ही हैं—धर्म्म तो कैथलिक है। उस धर्म्म में जिहोवा, यीशु सब अन्तर्द्धान हैं, सब की जगह पर 'मा' बैठी हुई है, शिशु-यीशु को गोद में लिये 'मा' बैठी हुई है। लाखों स्थानों पर लाखों तरह से, लाखों रूपों में, अट्टालिकाओं में, विराट् मन्दिरों में, मार्ग के किनारों पर, पर्णकुटीरों में, सर्वत्र 'मा' 'मा' 'मा'! बादशाह पुका-

रता है–मा! जंगबहादुर (Field Marshial) सेनापति पुकारता है–'मा'! ध्वजाधारी कहता है–'मा'! जीर्ण वस्त्र धीवर, बाजार हाट के फकीर सभी 'मा' पुकारते हैं। 'धन्य मेरी' 'धन्य मेरी' दिन रात यही ध्वनि सुनाई देती है।

अर्थात् पुरुष-शक्ति की अपेक्षा यूरोप स्त्री-शक्ति का अधिक सम्मान करता है। जिस प्रकार हमारे यहां काली, ज्वाला जी काशी में मणिकर्णिका आदि की पूजा की जाती है, उसी प्रकार वहां भी देवि-पूजा होती है। फ़र्क़ इतना ही है कि हम उसे गौण समझ कर पूजते हैं और वे मुख्य समझ कर। वहां सब से पहले स्त्रियों का ही सम्मान है,–पुरुष स्त्री का पदानत है, यहां तक कि अपरिचित मनुष्य भी वहां की स्त्री विशेष पर श्रद्धा और भक्ति दिखा सकता है। हमारे यहां यह पाप है। यूरोप में इस प्रकार की पूजा का आरम्भ मूर जाति ने किया है। मूर, अरब, मिश्र, और मुसलमान ये सब एक प्रकार से एक ही हैं। जब इन लोगों ने स्पेन को विजय कर आठ शताब्दी तक राजत्व किया, तभी यूरोप में सभ्यता का उन्मेष हुआ, और यही शक्ति पूजा का अभ्युदय-काल है। बाद को मूर, शक्ति को भूल गये, फलतः शक्ति और शोभा अन्तर्हित हो गयी। वे अपने स्थान से च्युत होकर अफ्रीका के एक कोने में जा पड़े और असभ्यों की संख्या में उनका भी नाम दर्ज हो गया। अब उसी शक्ति का संचार यूरोप में हुआ, 'मा' मुसलमानों को छोड़कर क्रिश्चियनों के घर में आ गयी।

फ्रांस और पैरिस।

यदि कोई यूरोप के स्वरूप से परिचित होना चाहे तो वह पहले पाश्चात्य धर्म्म की खानि फ्रांस को देखे। पृथ्वी का आधिपत्य यूरोप में है और यूरोप का महा केन्द्र पैरिस है। पाश्चात्य-

सभ्यता, रीतिनीति, प्रकाश अन्धकार, भला बुरा, सब का अन्तिम-परिपुष्टि-भाव इसी पैरिस नगरी में है।

यह पैरिस एक महासमुद्र है, उसमें मणि, मुक्ता, हीरा और जवाहर यथेष्ट हैं, पर मगर और नाकों की भी कमी नहीं। ऐसा सुन्दर देश, चीन के कितने एक अंशों को छोड़ कर और कहीं नहीं। प्रकृति का केन्द्रस्थल, विहार स्थान देखने में बड़ा रमणीक है। कहीं नदी, कहीं झरने, न ज्यादः गर्मी न अधिक ठंड, न अति वृष्टि और न अल्प वृष्टि, सर्वत्र शान्ति का निवास है। वहां के जल में रूप, स्थल में मोह, वायु में उन्मत्तता और आकाश में आनन्द है। प्रकृति सुन्दर और मनुष्य भी सौन्दर्य्य-प्रिय हैं। आबाल-वृद्ध-वनिता, धनी दरिद्र, उनके घर द्वार, खेत मैदान, सब साफ सब परिष्कृत हैं। एक जापान को छोड़, यह भाव अन्यत्र अलभ्य है। यह फ्रांस प्राचीनकाल से Gaulois, Romans, Franks आदि जातियों की संघर्ष भूमि है, इसे फ्रैंक जाति ने रोम राज्य के विकास के बाद योरोप में एकाधिपत्य प्राप्त किया, इसके बादशाह 'शार्ला-माएन' ने यूरोप में क्रिश्चियन धर्म्म का तलवार के ज़ोर से प्रचार किया था, इस फ्रैंक, जाति से ही एशिया खण्ड में यूरोप का प्रचार है। इसी से आज भी यूरोपी हमारे यहां फ्रैन्क, फिरंगी, फ्लाङ्की, और फिलिंग आदि के नाम से पुकारे जाते हैं।

सभ्यता की खानि पुराना ग्रीक डूब गया; चक्रवर्त्ती राज्य रोम, बर्बर-आक्रमण तरंग में बह गया। यूरोप का प्रकाश बुझ गया इधर एक और बर्बर जाति का एशिया खण्ड में प्रादुर्भाव हुआ, जिसे अरब कहते हैं। वह अरब-तरंग महावेग से पृथ्वी पर अपना विस्तार करने लगी। महाबली पारस्य अरब का पदानत हुआ, मुसलमान धर्म का ग्रहण किया; किन्तु इससे मुसलमानों का रूप बदल गया, उसमें अर्बी धर्म और पारसीय सभ्यता दोनों का सामञ्जस्य आगया।

अरब की तलवार के साथ साथ पारस्य-सभ्यता का लोप होने लगा। वह पारस्य-सभ्यता प्राचीन ग्रीस और भारतवर्ष से ली गयी थी। पूर्व, पश्चिम, दोनों ओर से महाबली मुसलमानों ने यूरोप के ऊपर आघात किया और साथ साथ में बर्बर लोग यूरोप में ज्ञान-प्रकाश को छोड़ देने से गिरने लगे। प्राचीन ग्रीकों की विद्या, बुद्धि और शिल्प ने बर्बराक्रान्त इटाली में प्रवेश किया, इससे राज-धानी रोम के मृत शरीर में प्राण आने लगे। उन प्राणों ने फ्लोरेन्स नगरी में प्रबल रूप धारण किया। प्राचीन इटाली नव-जीवन के संचार से जी उठी। अब इसका नाम Renaissance हुआ; किन्तु वह नव-जन्म इटाली का हुआ था, यूरोप के अन्यान्य अंशों का उस समय जन्म ही नहीं हुआ था, पहले उनका कहीं भी अस्तित्व नहीं था।

इटाली जाति, पुरानी है,–बूढ़ी है; उस समय, जब कि भारत में अकबर, जहांगीर, शाहजहां, आदि बादशाह राज करते थे, उस ने एक बार आँख खोल कर करवट ली और बाद अपनी उसी चिर निद्रा में सो गयी। जिस प्रकार भारतवर्ष बहुत काल से निद्रित चला आ रहा है और अकबर के राज-काल में वह कुछ दिनों को उठ बैठा, उसी प्रकार इटाली भी सोलहवीं सदी में कुछ दिनों के लिये जागा था; लेकिन अति बूढ़ी जाति अनेक कारणों से फिर सोगयी।

यूरोप में, इटाली के पुनर्जन्म-लाभ से फ्रेन्क जाति ने बड़ा फ़ायदा उठाया। चारों ओर से सभ्यता की धाराओं ने आकर फ्लोरेन्स नगरी में एक नवीन रूप धारण किया; किन्तु इटाली जाति में तो उस वीर्य्य के धारण करने की शक्ति थी ही नहीं। भारत की भांति वह उन्मेष यहीं समाप्त होजाता, पर यूरोप का सौभाग्य, इस फ्रेन्क जाति ने उस तेज को ग्रहण किया। नवीन

रक्त, नवीनभूत तरंगों में बड़े साहस के साथ अपनी तरङ्गिनी को छोड़ दिया, तरंगों का वेग क्रमशः बढ़ा–वह एक धारा सैकड़ों धाराओं के रूप में बढ़ने लगी; यूरोप की अन्यान्य जातियां, लोलुप बन कर नहर काट कर उस के जल को अपने २ देशों में लेगयीं एवं उस में अपनी जीवन-शक्ति ढाल कर उसका वेग, उसका विस्तार बढ़ाने लगीं; अब वे ही तरंगें भारत में आकर लगीं, जापान उन्हें बीच में ही अपने यहां लेगया और उस के जल को पान कर मस्त बन गया: जापान एशिया की नूतन जाति है।

यह पैरिस नगरी, उस यूरोपीय सभ्यता-गंगा का गो मुख है। यह विराट् राजधानी मर्त्यलोक की अमरावती है–सदानन्द नगरी है। ये भोग, ये विलास, ये आनन्द, लन्दन में हैं न बर्लिन में और न कहीं अन्यत्र ही। लन्दन और न्यूयार्क में धन है, बर्लिन में विद्या और बुद्धि है, पर फ्रांसीसी मनुष्य और फ्रांसीसी शोभा कहीं नहीं है। धन हो, विद्या बुद्धि हो, और प्राकृतिक शोभा भी हो–पर वहां वैसे मनुष्य कहां हैं? यह फ्रांसीसी अद्भुत चरित्र मानो प्राचीन ग्रीक का स्वरूप है—सदा आनन्द, सदा उत्साह, अति चपलता, फिर अति गम्भीर, सब कामों में उत्तेजना, सर्वत्र अलभ्य हैं।

यह पैरिस-विश्वविद्यालय यूरोप का आदर्श है। दुनियां की विज्ञान-सभाएँ यहां की एकाडेमी की नकल हैं। यह पैरिस औपनवेश–साम्राज्य की गुरु है, यहांका युद्ध शिल्प विचित्र है, यहां की रचना की नकल समस्त यूरोपीय भाषाओं में होती है। दर्शन, विज्ञान और शिल्प की पैरिस खानि समझी जाती है। सर्वत्र यहीं का अनुकरण होता है।

ये लोग सभ्य शहरी हैं, अन्यान्य सब जातियां इनकी अपेक्षा गंवार हैं। ये जो कुछ करते हैं, उस की कुछ वर्ष पीछे

जर्मन अंग्रेज आदि नकल कर लेते हैं, वह करना विद्या विषयक हो, शिल्प विषयक या समाज नीति विषयक हो। यह फ्रांसीसी सभ्यता जब स्काटलैंएड में पहुंची तो स्कॉट राजा इङ्गलैंएड के राजा बन गये-फ्रांसीसी-सभ्यता ने इङ्गलैंएड को जगा दिया,-स्काट राज ने ही स्टूयार्ट वंश के समय इङ्गलैंएड में रायल सोसाइटी आदि विज्ञान-सभाओं की सृष्टि की थी।

फ्रांस स्वाधीनता का आवास है। प्रजा शक्ति ने महावेग से इस पैरिस के द्वारा यूरोप को उलट पलट कर डाला है। अर्थात् प्रजा शक्ति का सब से ज़्यादह ज़ोर पैरिस में ही है और इसके अलावा जहां प्रजाशक्ति का घनत्व देख पड़ता है, वह केवल यहां की नकल मात्र समझनी चाहिये। आज इसी से समस्त यूरोप की नूतन आकृति हो गयी है।

एकबार स्काटलैंएड के एक प्रसिद्ध वैज्ञानिक ने हम से कहा 'आज कल पैरिस पृथ्वी मात्र का केन्द्र है; जो देश, जितने परिमाण में इस पैरिस के साथ अपना योग स्थापन करेगा, वह देश उतने ही परिमाण में उन्नति प्राप्त कर लेगा।' प्रशंसा की मात्रा अवश्य बढ़ी हुई है, किन्तु यह बात भी सत्य है कि यदि कोई जगत भर को किसी प्रकार का भी नवीन भाव दे सकता है, तो वह पैरिस ही है। यदि पैरिस में एक आवाज़ उठे तो उसकी प्रतिध्वनि तमाम यूरोप में फैल जाय। मूर्त्तिकार, चित्रकार, गवैय्या और नृत्य-विद्या-कुशल व्यक्ति यदि कहीं प्रतिष्ठा पा सकता है, तो सब से पहला स्थान यह पैरिस ही है।

भारत में इस नगरी की प्रशंसा के स्थान पर बदनामी ही सुन पड़ती है। यहां के कुछ लोग कहते हैं कि पैरिस एक महाघृणित, वेश्या पूर्ण और पूरा नरक कुएड है। लेकिन ये शब्द भारतियों के

नहीं, अङ्गरेजों के ही हैं, क्योंकि वे लोग पैसे वाले हैं, सब स्थानों पर ही विलास की सामग्री ढूंढ़ते हैं, पेरिस में उनकी प्रचुरता है और यही नहीं कि वे सब पैरिस में ही हैं, लन्दन, बर्लिन, वियेना न्यूयार्क में भी उनकी कमी नहीं। लेकिन भेद इतना ही है कि अन्य देशों की इन्द्रिय चर्चा पशुवत् समझी जाती है और परिस, सभ्य पैरिस की कींच भी मूल्यवान् है अर्थात् वहां इन्द्रिय चर्चा भी प्रधान समझी जाती है।

भोग-विलास की इच्छा किस जाति में नहीं है? जब किसी में भी नहीं तो जिनके पास दो पैसे हैं, वे तत्काल-हर समय पैरिस में ही क्यों विराजते देखे जाते हैं? इच्छा सब देशों में है, उद्योग की की त्रुटि कहीं कम परिणाम में नहीं। लेकिन पैरिस भोग करना जानती है, सब कामों में प्रसिद्ध है और इसी से विलास में भी सातवें आसमान में पहुंची हुई है।

तिस पर भी वहां का जो भी कुछ, घृणित समझा जाता है, सो सब विदेशियों की ख़ातिर से; वहां जो नाच रंग होते हैं, केवल परदेशियों के लिये। फ्रांसीसी बड़े सावधान हैं, फिजूल ख़र्च क़तई नहीं करते। यह घोर विलास, बड़े बड़े होटल, विश्रामालय-जिनमें एकबार भोजन व आराम करने से ही 'सर्वंवै पूर्ण ६८ स्वाहा' हो जाय, सो सब विदेशी अहमकों के लिये। फ्रांसीसी बड़े सभ्य हैं; अदब, क़ायदा सब नियमानुसार, बड़ी ख़ातिर करते हैं और इतने हँस मुख कि अतिथि को खुश करदें।

अलावा इसके एक और तमाशा है। अमेरिकन, जर्मन और अंग्रेज आदि का समाज खुला व्यवहारी है, विदेशी इच्छा करते ही उनके यहां का सब देख सुन सकता है। दो चार दिन की बात चीत में ही अमेरिकन दश दिन के लिये अपने घर रखने का निमं-

रण करते हैं; जर्मनी भी वैसे ही हैं, पर अंग्रेज़ ऐसा करने में कुछ विलम्ब करते हैं । फ्रांसीसी इस विषय में बड़े भिन्न हैं, उनके परिवार में सिवा अधिक परिचित के और कोई नहीं जा सकता । अगर कोई विदेशी उनके परिवार को देखने की इच्छा भी करता है तो वे स्वीकार नहीं करते । कारण कि उन्हें यह भय है कि जब वे लोग हमारे यहां के अच्छे बाज़ार को देख कर ही हमारे जातीय-चरित्र के बारे में मतामत प्रकाश करते हैं, तो वे हमारे परिवार के चाल-ढाल को देखकर भी क्यों न आलोचना करेंगे ! वहां पर अविवाहिता-कन्या हमारे देश की भांति ही सुरक्षित रक्खी जाती हैं, वे हर एक उत्सवों में नहीं जा सकतीं । हां, विवाह के बाद वे जहां चाहें अपने स्वामी के साथ जा सकतीं हैं । वहां विवाह की क्रिया मा-बाप ही करते हैं । पेरिस में ज़रा २ से उत्सवों में भी नर्त्तकियों का नाच होता है । पर अंग्रेज़ लोग इस बात को नहीं पसन्द करते; हां थियेटर में जाना, वहां पर स्वयं पार्ट लेना अच्छा समझते हैं ।

स्त्री सम्बन्धी आचार पृथ्वी के समस्त देशों में ही एकसा है; अर्थात् पुरुष पुरुष आपस में मिलें-भेटें, कुछ डर नहीं, पर यदि स्त्रियां पुरुषों से मिलना चाहें तो बड़ा भारी दोष है । फ्रांस अमेरिका और इङ्गलैण्ड में यद्यपि इस नियम की विरुद्धता देखी जाती है, वहां नाच के समय एक स्त्री पर पुरुष के साथ नाच गा सकती है, पर अपने स्वामी के ही सामने, पीछे नहीं । सारांश कि इतना होने पर भी स्त्री का सतीत्व रक्षण सर्वत्र एकान्त कर्त्तव्य समझा जाता है।

स्त्री सम्बन्धी आचार ।

इन सब बातों के कहने का उद्देश्य यह है कि प्रत्येक जाति का एक नैतिक जीवनोद्देश्य है और उसी से समस्त कार्य्य आरम्भ होते हैं । अतः उन कार्य्यों की आलोचना करने के लिये आलोचक को चाहिये कि वह उसी जाति की दृष्टि से उन का अवलोकन

करे। तभी वह सामर्थ्य होने पर उन सब की यथार्थ आलोचना कर सकेगा और यदि वे कार्य्य अपनी दृष्टि से देखे जावें तो उन से अर्थ का अनर्थ होना संभव है। इसलिये यह बात है कि—अप : नेत्रों से विदेशियों का अवलोकन करना और विदेशियों का अपनी दृष्टि से हमें देखना—ये दोनों ही भूल हैं।

यूरोपी लोग अपने यहां के विद्यार्थियों का स्त्रियों के साथ रहना घूमना-इत्यादि अच्छा समझते हैं। पर हम इसके क़तई ख़िलाफ़ हैं। हमारा ब्रह्मचारी अर्थात् विद्यार्थी शब्द और काम-जयति शब्द एकार्थवाची हैं, विद्यार्थी का मुख्य उद्देश्य-काम-जीत और संयमी बनना होना चाहिये।

हम मोक्ष को अपना चरम लक्ष्य समझते हैं एवं बिना ब्रह्म-चर्य के मोक्ष पाने की अभिलाषा रखना विडम्बना मात्र है। और पाश्चात्य का उद्देश्य है भोग, उसके लिये ब्रह्मचर्य की उतनी आव-श्यकता नहीं। लेकिन स्त्रियों का सतीत्व नष्ट हो जाने पर संतति उत्पन्न होना असंभव है और यही नहीं संतति न होने से धीरे धीरे समग्र जाति ध्वंस हो जाती है। यदि पुरुष; अपने सौ विवाह कर ले तो कुछ क्षति नहीं, वृद्धि ही होगी, और कहीं स्त्री बहुव्य-भिचार करे तो उसमें बन्ध्यत्व आ जाना अनिवार्य्य है। इसीलिये प्रायः समस्त देशों में स्त्रियों के सतीत्व के ऊपर विशेष आग्रह है। यथा "प्रकृति यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति।'

हम फिर यही कहते हैं कि—पैरिस बड़ा अच्छा शहर है। इस की समता करने वाला नगर समस्त भूमण्डल में नहीं है। यह पहले ज़माने में हमारे यहां की काशी के ढंग से बसा हुआ था। इसकी प्रायः सभी गलियां टेढ़ी मेढ़ी थीं। घर भी अजब ढंग के थे। पुरानी पैरिस लड़ाई-झगड़े, हंगामे—विद्रोह के फेर में पड़कर एक दम नष्ट
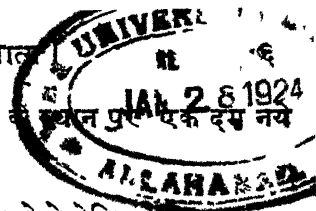
हो गयी थी। वर्त्तमान पैरिस तो उसी के स्थान पर एक दम नये सिरे से बनी है।

वर्त्तमान पैरिस का अधिकांश तीसरे नेपोलियन ने बनवाया था। तीसरा नेपोलियन मारकाट मचाकर बादशाह बना। उसके उपद्रवों से ही फ्रेंक लोग अभी तक स्थिर नहीं हो सके। इसी लिये वहां के राजा लोग निरंतर प्रजा को प्रसन्न रखने की चेष्टा करते रहते हैं। उन्हीं के दिल बहलाव के लिये आधुनिक पैरिस में तरह तरह के नाट्यगृह, सुन्दर सुन्दर पथ बने हुए हैं। पुरानी चीज़ अब वहां एक भी नहीं दिखायी देती। वहां एक Plas dela concorde नाम की सड़क है। यह सड़क पृथ्वी भर में अद्वितीय है। इसकी चौड़ाई देखकर आश्चर्य्य होता है। सड़क के मध्यस्थान में बढ़िया बाग़ हैं, उनमें भी एक मनुष्यों के जाने के लिये छोटा सा रास्ता है। यह मार्ग एक स्थान पर गोलाकार हो गया है। तमाम फ्रांस के ज़िले इसी सड़क से मिले हुए हैं। हर एक ज़िले के बाहर-किनारे पर एक एक यांत्रिक नारी मूर्त्ति हैं। इन सब मूर्त्तियों में एक मूर्त्ति स्ट्रासबुर्ग नामक ज़िले की है। यह ज़िला इस समय जर्म्मनों के अधिकार में है। लेकिन फ्रांसीसियों को उसके हाथ से निकल जाने के कारण बड़ा दुःख है; इसीलिये उसके किनारे पर रखी हुई मूर्त्ति को फ्रांसीसी प्रेत की भांति पूजते हैं। जिस तरह हमारे यहां भयावनिक सैय्यद का आला पूजा जाता है, आज कल उसी ढंग से उस मूर्त्ति का पूजन होता है। अस्तु। उपरोक्त सड़क का कुछ कुछ प्रत्यक्ष दृश्य पुराने ज़माने में दिल्ली के चांदनीचौक का था। वहां भी पहले स्थान स्थान पर प्रस्तर मूर्त्ति, जयस्तंभ और तोरण देख पड़ते थे। पैरिस में आजकल एक प्रथम महावीर नेपोलियन की स्मृति धातु-निर्म्मित विजयस्तम्भ है। उस में नेपोलियन के समय में हुई

है और एक स्थान पर प्राचीन दुर्ग Bastille ध्वंस का स्मारक चिन्ह है। यहां जब राजगणों का आधिपत्य था, तब वे लोग जिसे चाहें उसी को पकड़ कर जेल में डाल देते थे। उस समय अभियुक्त का विचार नहीं होता था, सिर्फ राजा एक हुक्म दे दिया करता था, उसी के आधार पर अभियुक्त को फांसी देदी जाती थी। हुक्मनामे का नाम था, 'लैटर दि कैश'-'अर्थात् राज मुद्रांकित लिपि।' अभियोगी ने कौनसा अपराध किया है, वह दोषी है या निर्दोष-इत्यादि बातों के जानने की कुछ ज़रूरत नहीं। इसी लिये कोई वहां अधिक नहीं घुस सकता था। राजा की प्रेम-पात्रियों के किसी से नाराज़ हो जाने पर अपराधी व्यक्ति पकड़ कर उसी समय क़ैदी बना दिया जाता था। आख़िरकार एक दफ़ा इन अत्याचारों से प्रजा के लोग पागल हो उठे। 'व्यक्ति-गत स्वाधीनता में सब का समान अधिकार है, राजा केवल प्रजा का सुख विधान कर सकता है, इसके अलावा उसे और कुछ अधिकार नहीं।" यह आवाज़ चारों ओर गूंज उठी। प्रजा की तरफ़ से एक दम हल्ला उठ खड़ा हुआ। राजमहल पर आक्रमण किया गया। विलासी राजा रानी उस समय नाच-गान में मस्त थे-कुछ परवाह नहीं। राजा रानी उसी अवस्था में पकड़ लिये गये। राजा के श्वसुर थे आस्ट्रिया के बादशाह। उन्होंने जमाई की मदद करने के लिये थोड़ी सी सैन्य भेजी। यह सुन प्रजा क्रोध से अन्धी होगयी। सैन्य के साथ राजा रानी मारडाले गये। स्वाधीनता की जय हुई। फ्रांस प्रजातन्त्री बना। राजा की पार्टी में भी जो लोग सम्मिलित थे, उन्हें भी पकड़ कर मार डाला गया। अनेक राज्याधिकारी तो अपनी अपनी उपाधियों के डिब्बों को फेंक कर प्रजा में ही मिल गये। उन लोगोंने तमाम फ्रांस में यही ध्वनि गुंजा दी कि 'हे दुनियां-भर के लोगो, उठो; समस्त अत्याचारी राजाओं को मार डालो, सब प्रजा स्वाधीन बन जावे, सब लोग स्वाधीन हो जावें। उस

नेपोलियन ज्यों त्यों करके उस द्वीप से भाग कर फिर फ्रांस में हाज़िर हुआ। फ्रांसीसियों ने फिर उसे अपना राजा बनाया; किन्तु फिर यूरोप भर उस पर टूट पड़ा। नेपोलियन फिर पकड़ लिये गये। अब वे एक जहाज में बैठ कर अंग्रेज़ों की शरणागत हुए। अङ्गरेज़ों ने उन्हें एक द्वीप में आमरण के लिये क़ैद कर दिया। फिर पुराना राजा आया। फ्रांस फिर मतवाला हो उठा। राजा फाजा मार कर भगा दिये गये। फिर प्रजातंत्र हुआ। महावीर नेपोलियन का एक भतीजा ऐसे ही समय फ्रांस का प्रीतिपात्र बना और उसने क्रमशः एक दिन षड्यंत्र रचकर अपने को फ्रांस का बादशाह घोषित कर दिया। ये वही तृतीय नेपोलियन थे कि, जिनका हम पीछे एक स्थान पर उल्लेख कर आये हैं। कितने ही दिन उनका प्रताप खूब बढ़ा; किन्तु जर्म्मनी के युद्ध में हार जाने के कारण उनके हाथ से भी सिंहासन जाता रहा। फ्रांस में फिर प्रजातंत्र हुआ और तब से आज दिन तक उसी रूप में चला आता है।

भारतीय समस्त सम्प्रदायों की मूलभित्ति परिणामवाद है।

EVOLUTION THEORY

जो परिणाम-वाद भारत के प्रायः समस्त सम्प्रदायों की मूल भित्ति है, इस समय उसी परिणामवाद ने यूरोपीय वर्हिविज्ञान में प्रवेश किया है। भारत के सिवा अन्यत्र सब देशों के धर्म्मों में यही मत था कि समस्त संसार खण्डशः है—अलहदा अलहदा है; ईश्वर भी अलहदा है; यहां तक कि मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट, पतंग वृक्ष, लता, मिट्टी, पत्थर और सब प्रकार की धातुएं सभी पृथक् पृथक् हैं,—ईश्वर ने सभी को अलहदा अलहदा बनाया है।

ज्ञान नाम है वस्तुओं के भीतर एकता देखना। जो वस्तुएं अलहदा अलहदा हैं, अन्दर में वे सब एक हैं। मनुष्य इस एकत्व को

उपलब्ध करता है इस उपलब्ध करने का ही नाम 'प्राकृतिक नियम' है ।

पहले एक स्थान पर हम कह आये हैं कि हमारी विद्या, बुद्धि और चिन्ता सभी आध्यात्मिक हैं, सभी विकाश धर्म के भीतर हैं और पाश्चात्यों में इन सब का विकाश उस से भिन्न है अर्थात् शरीर, समाज और बाहर में है । भारतवर्ष के पुरातन चिन्ताशील-व्यक्ति क्रमशः जान गये थे कि उपर्य्युक्त वस्तुओं को भिन्न भिन्न मानना भूल है, मनुष्य, पशु, पत्ती और वृक्षलतादि में जो भिन्नत्व है, वही परस्पर में सम्बन्ध रखता है। अद्वैतवादी इस ज्ञान की चरम-सीमा को पहुँच गये थे, उनका कथन है कि सभी एक का विकाश है । वास्तव में यह आध्यात्म और आधिभौतिक जगत् एक है, उस का नाम ब्रह्म है। और यह जो भिन्नत्व दृष्टिगोचर होता है, वह एक प्रकार की भूल है, उसे हम लोग माया कहते हैं और अविद्या अर्थात अज्ञान भी उसी का नाम है; इत्यादि बातों का जान लेना ही ज्ञान की चरम सीमा है ।

भारतवर्ष की बात जाने दो । यदि इस बात को कोई विदेशी भली प्रकार न जान सके तो उसे क्या कहा जायगा, कारण कि उन्हीं के अधिकांश पण्डित इस बात से भली प्रकार अवगत हो गये हैं कि एक किस प्रकार अनेक हुआ । इसका पता उन्होंने विज्ञान द्वारा लगा लिया है ।

इसी से तो हमने यह बात ज़ोर देकर कही कि आज कल प्रायः सभी परिणाम वादी बने हुए हैं—सभी इवोल्यूशिनिष्ट हैं ।

पाश्चात्य मत में समाज का क्रम—विकास ।

"जिस प्रकार एक छोटा सा जानवर धीरे धीरे बड़ा जानवर बन जाता है और बड़ा जानवर भी धीरे धीरे छोटा बन जाता अथवा

लोप हो जाता है, उसी प्रकार मनुष्य ने भी सुसभ्य अवस्था में जन्म प्राप्त किया।" यह बात एकाएक नहीं मानी जा सकती। ठीक है, हम भी यह मानते हैं कि कल इनके बाप दादा, बर्बर थे, लेकिन धीरे धीरे सभ्य अवस्था में आ गये। इसी लिये देश के विद्वान् लोगों के मुंह से सुना जाता है कि सभी मनुष्य क्रमशः असभ्य अवस्था से दूर हटकर सभ्य बने और सभ्य वन जावेंगे। आदिम मनुष्य अपना काम, काठ और पत्थरों के यंत्रों से चलाते थे, चमड़े और पेड़ की छालों से अपना शरीर ढकते थे, पशु पक्षियों की भांति पहाड़ों की गुहाओं और वृक्ष कोटरों में गुजर करते थे। इसका पता ध्वस्त देशों की मट्टी के नीचे पाया जाता है और किसी किसी स्थान पर तो वैसे मनुष्य अभी तक वर्त्तमान हैं। क्रमशः मनुष्य धातु का व्यवहार करना सीख गये। सब से पहले जिस धातु का व्यवहार किया गया। वह तांबा और टीन था। टीन और तांबा इन दोनों कोमल धातुओं को मिला कर यत्र तंत्र और अस्त्र शस्त्र बनाना सीख गये। प्राचीन ग्रीक, बाबिल और मिश्री लोग भी पूर्व में लोहे धातु का व्यवहार करना नहीं जानते थे, जब वे अपेक्षा कृत सभ्य हो गये तो सफाद पत्र और पुस्तकें लिखने लगे, सोने चांदी का भी व्यवहार करने लगे, पर लोहे धातु के व्यवहार विज्ञान से वे तब भी अनभिज्ञ रहे। अमेरिका महाद्वीप की आदिम जातियों में मेक्सिको, पेरू और मेयाआदि जाति बाबिल आदि जातियों से अपेक्षाकृत सभ्य थीं, वे गृह-निर्माण और सोने चांदी का व्यवहार भी जानतीं थीं; यहां तक कि-इस सोने चांदी के लोभ से ही स्पेन लोगों ने उनका नाश किया। किन्तु वे समस्त सांसारिक कार्य्य चुम्बक के अस्त्र शस्त्रों से ही करती थीं, लोहे का नाम और गन्ध उन्हें भी मालूम न था।

आदिम अवस्था के लोग मृगया जीवी थे।

यह बात प्रायः सभी जानते हैं कि प्रकृति में स्वयं रात दिन परिवर्त्तन हुआ करता है, वह कभी वनस्पति कभी जन्तु और कभी मनुष्य रूप धारण करती है और कभी उन शरीरों को त्याग कर पुनः अपने मूलरूप में आ जाती है। यह बात भी विज्ञान सम्मत है कि अनेक जाति के वृक्ष-लता, पशु, पक्षी, शरीर संसर्ग से, देशकाल के परिवर्त्तन से, नवीन नवीन जाति की सृष्टि करते हैं, किन्तु मनुष्य सृष्टि के पहले प्रकृति धीरे धीरे तरु-लता और जीव-जन्तुओं के रूप में परिणत होती रही। जब मनुष्य सृष्टि हुई, तब उसका कुछ जड़त्व दूर होकर बुद्धि वृत्ति से सम्पर्क हुआ। अतएव ज्यों ज्यों मनुष्य को अपनी आवश्यकता पूरी करने की ज़रूरत हुई त्यों त्यों ही वह बुद्धि-वृत्ति के परिचालन द्वारा अन्वेषण करने लगा। उस अवस्था के लोग तीर कमान या जाल आदि के सहाय्य से जीव-जन्तु और मत्स्यादि को मारकर अपना उदर पोषण करते थे, क्रमशः जब खेती-बाड़ी करना सीख गये तो उन्हें पशु-पालन की उपयोगिता प्रतीत हुई. अब वे जंगली जानवरों को पकड़ कर उनसे अपना काम निकालने लगे। गाय, घोड़ा, सूअर, हाथी, ऊंट, भेड़ और बकरी आदि का मनुष्य गृह में पालन होने लगा, खेती-बाड़ी का कार्य्य आरम्भ हुआ। आज कल जिन फल-फूल, शाक-सब्ज़ी और शस्यों को मनुष्य खान-पान में व्यवहृत करते हैं, उन की वन्य अवस्था भिन्न ही थी, बाद को मनुष्यों के अध्यवसाय से वे ही वन्य वस्तुएं अनेक सुखदायक पदार्थ बन गयीं।

विवाह का आदि तत्त्व।

आदिम अवस्था में विवाह नहीं हुआ करता था। क्रमशः यौनि सम्बन्ध उपस्थित हुआ, तब विवाह की उपकारिता लोगों को

मालूम हुई। पहले संसार के समस्त समाजों में वैवाहिक सम्बन्ध मा-बापों के ऊपर था। बापों की अवस्था निश्चित नहीं होती थी, अतः माता के नाम पर ही बच्चों का नामकरण होता था। स्त्रियों की अवस्था निश्चित थी, इसीसे उनके ही हाथ में घर का मालोधन रहता था। मनुष्य विविध प्रयासों से—विविध प्रकारों से—उस का उपार्ज्जनमात्र करते थे। क्रमशः जब धन रक्षा का अधिकार पुरुषों के हाथ में जा पहुंचा, तो स्त्रियां भी उनकी वश-वर्त्तिनी हो गई। उस समय जिस तरह पुरुषों को यह धारणा हुई कि धन-धान्य हमारा है, हम खेतीबाड़ी, यत्न और अध्यवसाय से उसका उपार्ज्जन करते हैं, इसमें से यदि कोई हिस्सा बांटेगा, तो हम उसका विरोध करेंगे। उसी तरह उन्होंने यह भी कहा कि—'ये स्त्रियां हमारी हैं; इन पर यदि कोई हस्ताक्षेप करेगा तो हम उस का विरोध करेंगे। यहीं से वर्त्तमान् विवाह का सूत्रपात हुआ। स्त्रियों और पुरुषों के अधिकार बांट दिये गये। पुराने लोग अपने दल के मनुष्यों का अन्य दूसरे दल में विवाह करने लगे। वह विवाह ज़बरदस्ती कन्या को आधीन करके होता था। धीरे धीरे यह रीति बदल गई, क्योंकि-उसमें एक स्त्री के लिये सैकड़ों आद-मियों का खून होता था। अब 'स्वयंवर का रिवाज़ प्रचलित हुआ, लेकिन धीरे धीरे वह भी एक दल के लोगों की रीति में शामिल हो गया, वह दल क्षत्रिय जाति है। पर पहली रीति का आभास प्रायः सर्वत्र दीखता रहा। अब भी प्रायः बाज़ बाज़ जातियों के वर विवाह करने के वक्त ढाल तलवार धारण करते हैं। बंगाल, प्रदेश और यूरोप में आज कल भी वर के मज़ाकन सैकड़ों थप्पड़ पड़ जाते हैं। हमारे युक्त प्रदेश में भी विवाह के समय कन्या पक्ष की स्त्रियां वर पक्ष को गाली दिया करती हैं । उनका मूल तत्व यही है।

कृषि-जीवी देवता और मृगया जीवी असुरों का सम्बन्ध ।

समाजों का निर्माण होने लगा। देश भेद से ही समाजों की सृष्टि हुई। जो लोग समुद्र के किनारे रहते थे, उनमें से अधिकांश मत्स्य-मच्छ, पकड़ कर अपना जीवन निर्वाह करने लगे, जो समतल पृथ्वी पर रहते थे, वे खेती-बाड़ी करने लगे, जो पर्वत-वासी थे, वे गाय भेड़ चराते एवं जिनका निवास मरूभूमि पर था, वे ऊंट वगैरः चराने लगे। कितने एक दलों का जंगलों में बास था, वे शिकार द्वारा पेट पालते थे। अब जिनका समतल भूमि में वास था। उनकी खेती-बाड़ी करने से उदर-चिन्ता बहुत कुछ जाती रही, धीरे धीरे वे सभ्य बनने लगे, पर सभ्यता के साथ शरीर दुर्बल होने लगा। जिनका देह दिन रात खुली हवा में रहता था, और जो मांस खाते थे उनका, और जो घरों में रहते शस्यादि भोजन करते उनका, बहुत सा पार्थक्य होने लगा। शिकारी पशु-पाल और मत्स्य जीवियों को जभी आहार का अभाव होता, वे तभी डांके डाल कर, मार पीट कर समतल वासियों को लूट लेते थे। समतल वासी लोग अब आत्म रक्षा के लिये बड़े बड़े दल बनाने लगे। यही छोटे छोटे राज्यों की सृष्टि हुई।

देवताओं का भोजन अनाज, अवस्था सभ्य, ग्राम, नगर और उद्यानों में निवास, वस्त्र-बुने कपड़ों के। और असुरों का पहाड़, पर्वत मरुभूमि या समुद्र तटों पर निवास, भोजन जंगली जानवर, जंगली फलमूल, कपड़े छालों के। और जो जंगली जानवर रहे देवताओंके पास, उन से फलतः धन, धान्य में वृद्धि हुई। देवताओं का शरीर श्रम नहीं सह सका, दुर्बल रहा। असुरों का शरीर उपवास कृच्छ्र और कष्ट सहने में बेहद पटु था।

असुरों को भोजन का अभाव होते ही वे दल के दल बांध कर पहाड़ों से, समुद्र तटों से आ आ कर ग्राम नगर लूट लेते थे

अथवा कभी २ धन के लोभ से देवताओं पर आक्रमण करते थे, इस से देवता लोग बहुत दुःखी हुए। अनेक आदमियों के एकत्रित न होने से उन की मृत्यु होने लगी। लेकिन थे वे अक्ल के पुतले। अपनी क्षति पर क्षति होती देख उन्होंने अब बुद्धि से काम लिया। काम और कुछ नहीं, अपनी रक्षा के लिये उन्होंने अब विविध अस्त्र-शस्त्रों का निर्माण किया। ब्रह्मास्त्र, गरुड़ास्त्र, वैष्णवास्त्र, शैवास्त्र और वरुणास्त्र आदि जिन अद्भुत अद्भुत अस्त्रों की कथा, हम आजकल पुराण ग्रन्थों में पढ़ कर एवं उन के आश्चर्य काम देख कर विस्मय से कभी कभी उन की शक्तियों पर अविश्वास करने लगते हैं, उन सब का आविष्करण देवताओं ने ही किया था। असुरों के पास ऐसे असाध्य-साधक अस्त्र नहीं थे, लेकिन शरीर में विषम बल था। असुर लोग बारम्बार देवताओं को हटा देते थे; किन्तु वे सभ्य होना नहीं जानते थे, उन में खेतीबाड़ी करने की ही बुद्धि नहीं थी,—बुद्धि-शून्य थे। विजयी असुर यदि विजित देवताओं के स्वर्ग में राज्य करना चाहते तो वे कुछ दिनों बाद ही देवताओं के बुद्धि-कौशल से उन के दास बन जाते। पर वे तो थे उद्दण्ड, जहां उद्दण्डता होती है वहां क्या बुद्धि–वृत्ति का अङ्कुर विकाश हो सकता है। धीरे २ देवगण भी अपने अस्त्र-शस्त्रों के बल से असुरों का सामना करने लगे, सहसा कई दफ़ा असुरों की हार हुई; सुरों ने उन्हें जंगलों और पहाड़ों की गुफाओं में रोंद दिया। क्रमशः दोनों दल ही बढ़ने लगे। लाख लाख देवताओं की जथेबन्दी होने लगी। उधर असुर तो पहले से ही अपनी टुकड़ियाँ बांधे हुए थे। अब महासंघर्ष, लड़ाई-झगड़े और जीत हार होने लगी। अस्तु।

उपरोक्त दलों में से ही समान वृत्ति वाले लोगों के मिल-जुल कर रहने से वर्त्तमान समाजों का संगठन हुआ है, आधुनिक समाजों के रीतिरिवाज़ भी उन्हीं लोगों की परम्परा से चले आते

हैं। देवता लोग नित्य एक न एक आविष्कार करते थे, अनेक विद्याओं की आलोचना करते थे, उन आलोचनाओं के फल से ही अनेक प्रकार के विज्ञानों की सृष्टि होती थी। आधुनिक प्रचलित समस्त विज्ञान उन पुरातन विज्ञानों के टूटे फूटे स्वरूप हैं। अस्तु।

राजा वणिक् आदि विभिन्न श्रेणियों की उत्पत्ति का रहस्य।

अब लोगों का एक दल अपनी बुद्धिमत्ता, विज्ञानसाहय्य और परिश्रम से संसार की भोगोपयोगी वस्तुओं को तैय्यार करनेलगा, एक दल उन की रक्षा में लगा। अब सब मनुष्य मिल कर अपनी २ आवश्यकताओं को दूर करने के लिये अपने अधिकार में रहने-वाली एक वस्तु से दूसरी वस्तु का विनियम करने लगे। लेकिन इन सब लोगों के बीच में रहनेवाले एक उस्ताद ने इस जगह की चीज़ उस जगह लेजाने के बदले समस्त वस्तुओं का अधि-कांश आत्मसात् करना आरम्भ कर दिया। सारांश यह है कि एक दल खेती करता, एक दल पहरा देता, एक दल बेचता और एक दल खरीदता था। जो लोग खेती करते थे, पहले तो उन्हें लाभ हुआ, बाद को दूसरों की स्वार्थाधिक्य साधना में पड़ कर वह बात न रही, जो लोग पहरा देते थे, वे ज़ुल्म-ज़ोर और अत्याचारों से लाभ का अधिकांश अपने आप लेने लगे, अब जो ख़रीददार थे, उन्हें ही जमा की जमा पड़ी। पहरेदार थे राजा लोग और व्यवसायियों का नाम हुआ सौदागर। ये दोनों दल काम तो कुछ नहीं करते थे, पर लाभ का अधिकांश इन्हीं को मिलता था, एवं जो लोग चीज़ें तैय्यार करते थे, उन की अन्त में यह दशा हुई कि बिचारों को भरपेट अन्न जुटना भी दुश्वार होगया।

दस्यु और वेश्याओं की उत्पत्ति।

क्रमशः उपरोक्त दलों से ही ऊंच नीच समाजों की सृष्टि हुई; किन्तु अब भी दस्युदल—असुरदल—की कमी तनिक भी न हुई। जो

लोग पहले भेड़ें चराते थे, मछलियां मार कर खाते थे, वे सभ्यों में जन्म लेकर बम वग़ैरह की सृष्टि करके देव दल को पहले से अधिक सताने लगे। अब उतने वन नहीं जो वे शिकार करें, पास-पड़ोस में पहाड़ भी नहीं जो भेड़ें चरावें, आख़िर अब उनका नित्य-नैमित्तिक कार्य्य चोरी डकैती ही होगया। पहले असभ्य दल की स्त्रियां इच्छानुसार भ्रमण करती थीं, जहां इच्छा होती वहीं जातीं, अब वे दल सभ्य होगये तो उनकी पहली सी परितृप्ति का रास्ता बन्द होगया, इसलिये वे पुरुषों का शासन न मान स्वच्छन्दवास करने लगीं। ये ही बाद को वेश्या हुईं। सारांश यह कि अनेक ढंगों से, अनेक प्रकार से अनेक सभ्य और असभ्य, देवता और असुर जन्म के मनुष्य एकत्र होकर रहने लगे। यही समाज सृष्टि का मूल तत्त्व है। इसी से सब समाजों में समाज के लोगों की प्रकृति के अनुसार उनके आराध्यदेवता का निवास है, किसी समाज का ईश्वर विष्णु है, किसी का शिव है और किसी की देवी है। पुराणों में देवी की आराधना करनेवाले लोग तामसिक प्रकृति अर्थात् असुर दल के कहे गये हैं। फिर जिन समाजों में, जिन दलों में जिस प्रकार की जनसंख्या अधिक है, उस समाज का चरित्र उसी परिणाम में दैवी या आसुरी कहाता है।

प्राच्य और पाश्चात्य सभ्यता की भिन्न २ भित्तियां।

जम्बू द्वीप निवासिनी जातियों की समस्त सभ्यताओं की जननी खेती बाड़ी है। यहां की सभ्यता देवता प्रधान है। और यूरोप की सभ्यताएं प्रायः पहाड़ और समुद्र-बहुल देशों में पैदा हुई हैं, वहां की सभ्यताओं की भित्ति डकैती और ठगी है, इसी से उस में असुर भाव है।

आजकल यदि देखा जाय तो जम्बू द्वीप का मध्य भाग और अरब के मध्य भागस्थ मरुभूमि ही असुरों का प्रधान अड्डा है।

इन स्थानों से ही एकत्रित होकर पशुपाल मृगयाजीवी* असुर-लोग नगर ग्रामों में आकर पहले, देवगणों को लूटते खसोटते थे ।

यूरोपखण्ड की आदिम निवासी एक जाति अवश्य पहले से ही कुछ सभ्य थी । पहले कहने से यह मतलब नहीं कि वह सभ्यता लेकर ही जन्मी थी, वरन् संसार की अन्यान्य जातियों में से अधिकांश जातियों से पहले ही सभ्यता का पाठ सीख गई थी । इसका निवास पर्व्वत-गुहाओं में था, उसमें भी जो लोग अधिक बुद्धिमान थे, वे थोड़े या गहरे जल वाले तालावों के बीच में मचान बना कर एवं उन्हीं पर रह घर-द्वार निर्माण करके रहते थे । सांसारिक कार्य विशेष निबाहने का तरीक़ा इनके यहां चुम्बक पत्थर के बने अस्त्रशस्त्रों का व्यवहार था ।

ग्रीक ।

क्रमशः जम्बू द्वीप का नर स्रोत यूरोप के ऊपर गिरने लगा । कहीं कहीं अपेक्षाकृत सभ्य जातियों का उदय हुआ । रूस देश की किसी किसी जाति की भाषा, भारत की दक्षिणी भाषा से मिलती है । किन्तु ये जातियां बहुत दिनों तक अति बर्बर अवस्था में रहीं । एशिया माइनर से एक सभ्य लोगों का दल समीपवर्त्ती द्वीपों में पहुंचा । उसने यूरोप के निकटवर्त्ती स्थानों पर अपना अधिकार जमाया और अपनी बुद्धि तथा प्राचीन मिश्र की सभ्यता से एक अपूर्व सभ्यता की सृष्टि की, उन लोगों को हम यवन कहते हैं, यूरोपीय ग्रीक के नाम से पुकारते हैं ।

यूरोपीय जातियों की सृष्टि ।

इसके बाद इटाली में रोमन नामक एक दूसरी बर्बर जाति ने इट्रस्कोन नाम की एक सभ्य जाति को हराया और उसकी विद्या

बुद्धि का संग्रह कर स्वयं सभ्य होगई। क्रमशः रोमनों का चारों ओर अधिकार हुआ, यूरोपखंड के दक्षिण और पश्चिम भाग के समस्त असभ्य लोग उनकी प्रजा बने केवल उत्तर भाग में जंगली बर्बर जातियां ही स्वाधीन रहीं। काल के प्रभाव से रोमन लोग ऐश्वर्य्य, विलासपरता से दुर्बल होने लगे, उसी समय फिर जम्बू द्वीप की असुर सेना ने यूरोप के ऊपर चढ़ाई की। असुरों की ताड़ना से, उत्तर यूरोपीय बर्बर, रोम साम्राज्य के ऊपर टूट पड़े, रोम का नाश होगया। अब उन्हीं असुरों की ताड़ना से यूरोप की बर्बर और यूरोप के नष्ट होने से बचे हुए रोमन-ग्रीकों ने मिलकर एक अभिनव जाति की सृष्टि की। इसी समय यहूदी जाति, यूरोप में फैल पड़ी, साथ साथ में उसका नवीन धर्म्म क्रिश्चियन भी यूरोप में विस्तार प्राप्त कर गया। यहीं यूरोपीय जातियों की सृष्टि हुई। उन सब का धर्म्म हुआ दिन रात युद्ध करना, असुरों जैसा व्यवहार करना, शक्ति की पूजा करना।

हिन्दुओं के कृष्णवर्ण से, उत्तर में दूध की भांति सफेद रंग, काले वा भूरे केश, काली आंखें यहां तक कि समस्त हिन्दु-लक्षण विशिष्ट—वर्णसंकर स्वरूप एक अति बर्बर यूरोपीय जाति की सृष्टि हुई। कुछ समय तक वह परस्पर में ही मारकाट करती रही, प्रायः जब कभी उसे कोई सभ्य व्यक्ति मिल जाते तो तुरत मार डालती थी। उसी में से क्रिश्चियन धर्म के दो गुरु इटाली के पोप और पश्चिम के कांस्टेंटिनोपिल के पेट्रियार्क, जो इस पशु प्रायः बर्बर जाति के ऊपर उनके राजा और रानी सभी के ऊपर शासन करने लगे।

मुसल्मान धर्म्म।

इधर फिर, अरब की मरु भूमि में मुसल्मानी धर्म्म का उदय हुआ, जंगली पशु-प्राय अरबोंने एक महा पुरुष की प्रेरणा—बल से, अदृश्य

तेज से, अप्रतिहत वेग से पृथ्वी के ऊपर आघात किया। पश्चिम और पूर्व इन दोनों दिशाओं से उस तरंग ने यूरोप में प्रवेश किया। उस स्रोत-मुख से भारत और प्राचीन ग्रीस की विद्या बुद्धि यूरोप में प्रवेश करने लगी।

मुसलमानों का भारतादि विजय।

जम्बू द्वीप के मध्य भाग से सेलमूल तातार नामक असुर जाति ने मुसलमान धर्म्म ग्रहण किया और एसिया माइनर आदि स्थानों पर अपना दखल कर लिया। अरब लोग भारतवर्ष के जय करने की अनेक चेष्टा करने पर भी सफल-मनोरथ न हुए। मुसलमान समस्त पृथ्वी को जीत कर भी भारतवर्ष के निकट कुण्ठित होगये। उन्होंने सिन्धु देश पर एक बार आक्रमण किया, पर हस्तगत न कर सके; इस के बाद चुप हो कर बैठ गये।

कितनी एक सदियों बाद जब तुर्क आदि तातार जाति बौद्धधर्म्म को छोड़ कर मुसलमान बन गई, तो उस ने हिन्दू पार्सी और अरब आदि समस्त जातियों को सहसा अपना गुलाम बना लिया। भारतवर्ष के समस्त मुसलमान विजेताओं में एक दल भी अरबी या पार्सियों का नहीं था, सब तुर्क व तातार थे। राजपूताने में समस्त आगन्तुक मुसलमानों का नाम तुर्क कह कर लिया जाता था। राजपूताने के चारण लोग अक्सर गाया करते थे–"तुर्कन को अब बाढ़रह्यो है जोर।" कुतुबुद्दीन से मुग़ल बादशाह तक सब तातार लोग ही थे। तातार लोगों का वर्ण सफेद होता था, आज कल जो काले रंग के मुसलमान दीख पड़ते हैं, उन की वर्णसांकर्य्य से उत्पत्ति हुई है। असली मुसलमान पुरातन तिब्बती थे। उन की भी गणना असुरों में है। आज कल भी उस असुर जाति वों में से काबुल, पारिस, अरब और कांस्टेन्टि नोपिल में बैठे हुए राज कर रहे हैं। विराट् चीन साम्राज्य ही उसी तातार माञ्चू के पदतल में था, पर उस माञ्चू ने

अपना धर्म्म नहीं छोड़ा, वह मुसलमान नहीं, महा लामा का चेला है । यह असुर जाति सर्वदा लड़ाई झगड़ों में लगी रहती है, विद्या चर्चा करना इसने सीखा ही नहीं ।

क्रिश्चियन और मुसलमानों का युद्ध ।

तातारों ने अरबी ख़लीफा का सिंहासन छीन लिया, क्रिश्चियनों के महातीर्थ जेरुसलम आदि स्थानों पर दख़ल कर उनकी तीर्थयात्रा बन्द कर दी, इससे प्रतियोगिता करने में बहुत से क्रिश्चियन मारे गये । पोपगण पागल हो उठे । सारा यूरोप उनका चेला था, राजा ने प्रजा को उभारना शुरू किया—अब असंख्य यूरोपी बर्बर जेरुसलम का उद्धार करने के लिये एशिया माइनर की ओर चल दिये । कितने एक, आपस में लड़ने झगड़ने लगे, मार काट करके मरने लगे, कितने एक रोगाक्रमण द्वारा मर गये, अवशिष्टों को मुसलमानों ने मार डाला।' समस्त सेना को इस प्रकार ध्वंस हुआ देख बर्बर लोग फिर पागल हो गये, दल के दल फिर उसी ओर आने लगे और मुसलमानों के हाथ से मरने लगे, लेकिन आना उनका बन्द न हुआ । उन आने वालों में बहुत से जंगली बर्बर थे, वे आपस में ही लूट मार मचाने लगे और खाद्य-नाभाव के कारण मुसलमानों को मार मार कर खाना आरम्भ कर दिया । यह बात अब भी प्रसिद्ध है कि अङ्गरेजों के राजा रिचर्ड मुसलमानों के मांस से बहुत प्रसन्न थे ।

जंगली मनुष्य और सभ्य मनुष्यों की लड़ाई में जो परिणाम होता है, यहां भी वैसा ही हुआ, जेरुसलम हाथ न आया ।

फलतः यूरोप में सभ्यता का प्रवेश ।

किन्तु यूरोप सभ्य होने लगा । वहां के चमड़ा पहनने वाले, पशु-मांस खाने वाले अङ्गरेज, फ्रेञ्च, और जर्मन आदि लोग एशिया

की सभ्यता सीखने लगे। इटाली आदि की बड़ी बड़ी फ़ौजें दार्शनिक मत का अनुशीलन करने लगीं। क्रिश्चियनों का नांगादल-Knight templars, घोर अद्वैत वादी वेदान्ती बन गया, बाकी के बर्बर उनकी मज़ाक उड़ाने लगे। उपरोक्त दल के पास बहुत सा धन भी था, उस समय पोपों के हुक्म से, धर्म्म रक्षा के बहाने यूरोपी राजाओं ने उन बेचारों को मार कर धन लूट लिया।

इधर मूर नाम की मुसलमान जाति ने स्पेन देश में एक अति सुसभ्य राज्य का स्थापन किया और वहां अनेक प्रकार की विद्याओं की चर्चा आरम्भ कर दी, फलतः यूरोप में अब यूनिवर्सिटियों की सृष्टि हुई; इटाली, फ्रांस, और सुदूर इंगलैंड से विद्यार्थी, वहां विद्याध्ययन करने आने लगे, राज्य-रजवाड़ों के राज-कुमार भी युद्ध विद्या, आचार, नियम और सभ्यता सीखने आने लगे। तभी से घर द्वार, महल-मन्दिर सब का नवीन ढंग से निर्माण होने लगा।

यूरोप की एक महासेना रूप में परिणति।

किन्तु समस्त यूरोप एक सेना रूप में बदल गया—वह अब भी वैसा ही है। मान लीजिये मुसलमानों ने एक देश जीता तो उसके राजा ने उसका एक बड़ा सा टुकड़ा अपने पास रख बाक़ी सेनापतियों को बांट दिया। सेना के लोग राजा को लगान नहीं देते थे, किन्तु राजा को आवश्यकता होने पर—जितनी वह चाहता—उतनी सेना दे देते थे। इस प्रकार हर समय तयार फ़ौजों के न रहने पर भी उन्हें आवश्यकता पड़ने पर जितनी चाहते उतनी सेना मिल जाती थी; अर्थात् उन लोगों की जितनी प्रजा थी, प्रायः सभी सैनिक थी। आजकल भी हमारे देश के राजपूताना प्रदेश में यही भाव है। अस्तु। यूरोपियों ने मुसलमानों के इस रिवाज़ को पसन्द किया

और आप भी वैसा ही करने लगे। किन्तु मुसलमानों के यहां थे, राजा, सामन्त और सैनिक, बाकी प्रजा। वे सब आपस में एक सा व्यवहार करते थे। यूरोपियों ने राजा, सामन्त और अफ़सरों को छोड़ शेष प्रजा को एक तरह का गुलाम बना लिया। प्रत्येक मनुष्य किसी न किसी सामन्त के अधिकार में रहे, वरन् उसका जीवन विपन्न,—उसे जिस समय जैसा हुक्म दिया जाय, उसको, वैसा करने पर ही रक्षा है।

यूरोपी सभ्यता रूपी वस्त्र के उपादान।

यूरोपी सभ्यता रूपी वस्त्र के ये सब उपकरण हुए"—एक अतिशीतोष्ण पहाड़ी समुद्र तटमय प्रदेश तन्तु और सर्वदा युद्धप्रिय, बलिष्ठ, अनेक जातियों की समिष्टि से पैदा हुई एक खिचड़ी जाति इसकी तूल हुई। उसका व्यवहार हुआ—आत्मरक्षा और धर्म्म रक्षा के लिये युद्ध। यूरोप में जो तलवार पकड़ना जानता है, वही बड़ा है। जो तलवार नहीं पकड़ सकता, वह स्वाधीनता का विसर्ज्जन कर किसी वीर की छाया के नीचे रहता है—जीवन धारण करता है। इस सभ्यता का उपाय थी—'तलवार,' सहायक था—'वीरत्व' और उद्देश्य था—'लौकिक सुखों का भोग करना।'

हमारी सभ्यता शान्ति प्रिय है।

हमारी बात क्या है! आर्य्य लोग शान्ति प्रिय हैं, खेतीवाड़ी करते हैं, अनाज पैदा करते हैं और शान्ति पूर्वक स्त्री परिवार का पालन कर सकना ही उनके लिये यथेष्ट सुख है। इन बातों की पूर्त्ति में अधिक समय की आवश्यकता नहीं, इसीसे चिन्ता-शीलता और सभ्य बनने का अवकाश अधिक मिलता है। प्रमाण स्वरूप राजा जनक खेती भी करते थे और आत्मवेत्ता भी थे। ऋषि मुनि और

योगियों का अभ्युदय यहां आरम्भ से ही है; क्योंकि वे पहले से ही जानते थे कि संसार मिथ्या है-लड़ना झगड़ना बेकार ! जो भोग के नाम से पुकारा जाता है उसकी प्राप्ति शान्ति में है और शान्ति है शारीरिक भोग विसर्जन में, भोग है मन शीलता में, बुद्धि चर्चा में-शरीर चर्चा में एक दम नहीं। जंगलों को आबाद करना उनका काम था।

पहले उस भूमि में यज्ञ वेदी निर्म्मित हुई, आकाश में यज्ञ धूम छाने लगा, वायु में वेद-ध्वनि प्रति ध्वनित होने लगी। और अरि-पशु शंकारहित होकर सर्वत्र विचरण करने लगे। विद्या-धर्म के दावों के नीचे तलवार का निवास बना। उसका एकमात्र धर्म्मरक्षा करना ही काम था, साथ में मनुष्य और गाय आदि पशु का परि-त्राण भी उसी के जिम्मे था, उसके व्यवहारी थे वीरवर आपत्त्राता अर्थात् क्षत्रिय।

दुधारा-खांडा और तलवार आदि सबका अधिपति रक्षक, धर्म था। वह राजाओं का राजा और जगत् के निद्रित होने पर भी सदा जाग्रत रहता था। धर्म के आश्रय में सभी स्वाधीन रहते थे।

आर्य्यों द्वारा भारतीय आदिम जाति का विनाश, यूरोपीय पण्डितों का भित्तिहीन अनुमान मात्र है।

यूरोपीय लोग अक्सर कहा करते हैं कि-"आर्य्य लोग असल में भारत के रहने वाले नहीं, यहां पूर्व में किसी जंगली जाति का निवास था; आर्य्य लोगों ने कहीं से आकर उस विचारी जाति को मार कूट कर भारत को अपने आधीन कर लिया।" यह अफ़-वाह मूर्खों की उड़ाई हुई है। एवं उन्हीं में के कुछ पण्डित-मन्य अह-मकों की पुस्तकों में ऐसा लिखा है। हमें आश्चर्य्य है, कि भार-

तीय शिक्षा-विभाग इतना बड़ा विद्वत्समाज होकर भी भारतीय विद्यालयों में ऐसी पुस्तकों को क्यों भरती करता है ! ऐसी अन्याय पूर्ण पुस्तकों का प्रचार जहां तक हो सके शीघ्र बन्द करना चाहिए।

मैं मूर्ख मनुष्य हूं।साधारण-ज्ञान के ऊपर विश्वास के कारण ही इतना करने का साहस करता हूं एवं इसी साहस के बूते मैं योग्य बात को विदेशियों से भरी पैरिस की सभा में भी कहने से नहीं चूका । संसार का इतिहास उठाकर देख लो, आप लोग पण्डित हैं, आप का विविध ग्रन्थों का अनुशीलन ही एक व्यसन है, मैं सत्य कहूंगा—आपने अभी तक कोई ऐसा ग्रन्थ देखा है, कि जिसमें आर्य्य जाति के नीच जाति पर किये अत्याचारों का उल्लेख हो ? यह बात मैं स्वदेशी और विदेशी दोनों ओर के पण्डितों से पूछता हूं ।

हां, यूरोप का इतिहास यह बात अवश्य कहता है कि यूरोपियनों ने जहां निर्बल जाति को देखा, वहीं उसका सर्वतोभावेन ने निपातन किये बिना नहीं छोड़ा । ये लोग ही एकाकी वास पसन्द हैं; हिन्दू लोग ऐसे नहीं। यूरोपी लोग वन और पर्वत वासी थे, उन्हें ही आहार का अभाव व्याप सकता था, और इसी से वे 'हाय अन्त,' 'हाय घर' करते हुए कृषि-जीवी लोगों पर अत्याचार कर सकते थे । हिन्दू लोग कभी भूखे नहीं रहे. उन्हें कभी धनका अभाव नहीं व्यापा, क्योंकि भारत कृषिप्रधान देश है ।

मैंने अपने एक विदेशी मित्र से एक बार पूछा कि, क्यों जी, आर्य्यों के नीच जाति पर किये अत्याचारों का वर्णन आपने कहां पढ़ा जो आप लोग उन्हें इस प्रकार बदनाम करते हैं ?—तो वे सकपकाते हुए बोले—'केवल अनुमानमात्र है ।' यह सुन कर मैं आश्चर्य्य से भर गया । जो जाति प्रत्येक विषय में अनुमान प्रमाण

पर उपेक्षा कर प्रत्यक्षप्रमाणवादी मानी गई है—जिसका अन्वेषण-व्यवसाय संसार की समस्त जातियों से बढ़ा चढ़ा है, वह आर्यों के दोषदर्शन में अनुमान प्रमाण का आश्रय ले ? ग़ज़ब !!!

हिन्दुओं के किस वेद, किस सूक्त और किस पुराण में लिखा है कि आर्य्य लोग किसी अन्य देश से भारत में आये ? और यह बात किस शास्त्र के किस पन्ने में लिखी है कि उन्होंने जंगली जाति को मार भगा कर भारत को अपना स्थान बनाया ? व्यर्थ ग़लतफ़हमी फैलाने से क्या लाभ ?' यह प्रश्न मैंने एक अन्य विदेशी पण्डित से किया ? तब उन्होंने रामायण की ओर इशारा कर के कहा कि उसके पढ़ने से ऐसा प्रतीत होता है ।

मैंने कहा—'तब क्या आपने उसका भली प्रकार पाठ किया है ?' बोले—'नहीं, ऐसा सुना जाता है कि रूपक छल से उसमें आर्यों द्वारा 'अनार्य्य जाति पर विजय' लिखा गया है ।' यह सुन कर मैं हँस पड़ा, बोला-'रावण अनार्य्य नहीं था, उस के देश की बराबर सभ्यता तो संसार के किसी भी देश में नहीं ।'

रामायण आर्य्य जाति द्वारा अनार्य्य विजय का उपाख्यान नहीं है ।

रामचन्द्र आर्य्य राजा थे, सुसभ्य थे, लड़े किस के साथ ? लंका के राजा रावण के साथ । अच्छा रामायण पढ़ो और लंका के इतिहास का वर्णन पढ़ो । रावण तो रामचन्द्र के देश से सभ्यता में बढ़े चढ़े राज्य का स्वामी था; लंका की सभ्यता अयोध्या से अनेकांश में बढ़ी चढ़ी थी । बोले--'ख़ैर रावण सभ्य था तो वालि नामक वानर राजा तो सभ्य नहीं था । उसे तो राम ने अवश्य ही विजय किया ।' मैं बोला,—'नहीं, बाली जिस जाति का राजा था,

वह जाति तो रामचन्द्र की स्वयं मित्र थी। बाली को मारना राम का अनार्य्य जाति पर विजयलाभ नहीं था वरन् शिक्षादान था। एक भाई की स्त्री, फिर भाई भी कौन? छोटा, जो आपके यहां और हमारे यहां पुत्र-तुल्य माना गया है, उस के साथ भोग करने की इच्छा रखनेवाले को कौन नहीं दण्ड देगा? आर्य्य जाति अत्याचारिणी नहीं वरन् अनार्यों ने आर्य्यों पर बहुत से अत्याचार किये हैं, जिस रामायण को आप आर्य्य जाति का विजय काव्य बता कर निर्देश करते हैं उसी के तीसरे काण्ड में पढ़ देखो, आर्य्य ऋषि मुनियों पर अनार्य्य राक्षस जाति ने कैसे कैसे अत्याचार किये, वहां राम ने देखा कि तपस्वियों के हाड़ों के पहाड़ खड़े हैं। उन पहाड़ों का निर्माण अनार्यों ने ही किया था।

उपसंहार।

आर्य्य-सभ्यता रूपी वस्त्र के, अति विशाल नद नदी, उष्ण प्रधान समतल क्षेत्र-तन्तु हैं। आर्य्य प्रधान, अनेक प्रकार के सुसभ्य, अर्द्ध सभ्य मनुष्य इस वस्त्र की तूल हैं, इनका ताना है-वर्णाश्रमाचार।

हे यूरोपीय बन्धु, ज़रा अपनी ओर तो देखो, तुमने किस समय निर्बल जाति के साथ उपकार किया! अपेक्षाकृत अवनत जाति के उन्नत बनाने में तुम्हारी शक्ति कहां लगी! तुम लोगों ने जहां दुर्बल जाति को पाया वहीं उसका निपात कर उसका राज्य अपने अधिकार में कर लिया। तुम्हारी अमेरिका का इतिहास क्या है? तुम्हारी आष्ट्रेलिया, न्यूज़ीलैण्ड, पैसिफ़िक आदि द्वीपों का और तुम्हारी अफ्रीका का इतिहास क्या है?

आज वे वन्य जातियां कहां गईं! तुम लोगों ने वन्य-पशुवत् उन लोगों को मार भगाया न! और जहां पर उनका अस्तित्व अभी

तक मौजूद है, यहां आपकी पेश न चलने के कारण, वर्ना उनके साथ भी वैसा ही व्यवहार किये बिना तुम उन्हें कब छोड़ते !

भारतवर्ष ने कभी अपने से अपेक्षाकृत अवनत लोगों को 'पर' नहीं समझा। आर्य्य लोग अति दयालु थे—उनके अखण्ड समुद्रवत् विशाल हृदय में, अमानव-प्रतिभा-सम्पन्न-मस्तिष्क में, वैसी पाशव-प्रणाली ने कभी स्थान नहीं पाया। जी हुजूर के सेवको, विजातियों के सुर में सुर मत मिलाओ, सोचो, बुद्धि को ज़ोर दो, यदि आर्य्य लोग असभ्य और अनार्य्य जाति पर अत्याचार करते, तो भारतीय वर्णाश्रम की सृष्टि क्यों होती।

यूरोप का उद्देश्य है-'सब को नष्ट कर एकमात्र वही संसार सुख का उपयोग करे।' आर्य्यों का उद्देश्य है—वे समस्त संसार को आत्मवत् समझें, क्योंकि—उनका एकमात्र "वसुधैव कुटुम्बकम्" आराध्य है। यूरोप की सभ्यता का उपाय तलवार है और आर्य्यों की सभ्यता का उपाय है—वर्ण विभाग। शिक्षा सभ्यता के तारतम्य में है; सभ्यता सीखने का सोपान, वर्ण विभाग है। यूरोप में बलवान् की जय और दुर्बल की मृत्यु है, भारतवर्ष का प्रत्येक सामाजिक नियम दुर्बल की रक्षा करने के लिये है।

पुस्तक समाप्त हो चुकी है। अब हम केवल इतना और कह कर कि हे भारतीयो, तुम शिक्षित हो, माना, लेकिन प्रकृत-शिक्षित नहीं हो—यदि प्रकृत-शिक्षित होते, यदि तुम्हारा अपने जातीय-साहित्य से पूर्ण परिचय होता, तो तुम अपने ही उच्छिष्ट भोजियों के इतने अनुरक्त न हो जाते; विराम लेते हैं।

जिन लोगों ने संसार का इतिहास पढ़ा होगा, वे लोग भली प्रकार जानते हैं कि एक भारतवर्षीय सभ्यता ही समस्त देशों की सभ्यता से पुरानी है प्रमाण में, हम अपनी किसी पुस्तक से नहीं

वरन् एक पाश्चात्य पण्डित का मत उद्धृत करते हैं। मिस्टर डी० ओ० ब्राउन अपने एक लेख में लिखते हैं कि:—

"यदि हम पक्षपात शून्य होकर विचार करें तो हमें स्वीकार करना पड़ेगा कि आर्य्य लोग ही सारे संसार के साहित्य, धर्म और सभ्यता के जन्मदाता हैं।"

हमारा धार्मिक-साहित्य ही इस बात का गौरव रखता है कि उस में सब प्रकार के उन्नति-विधाता विषय सन्निविष्ट हैं। हमारे धार्मिक साहित्य की बराबर किसी का साहित्य ऊंचा नहीं। प्रमाण रूप में वेद, पुराण, और शास्त्र ग्रन्थों में ही देख लीजिये, उस में दर्शन, नीति, ज्योतिष, अङ्कगणित, रेखागणित, सामुद्रिक और फलित ज्योतिष, भाषा और व्याकरण, वैद्यक, शिल्प, चित्र-कारी, मूर्त्तिनिर्माण, संगीत, अभिनय आदि सभी विषय हैं। और किसी जाति का धार्मिक साहित्य ऐसा नहीं जिस में उपरोक्त विषय लिखे गये हों। क्रिश्चियनों का ही साहित्य उठा लीजिये, उस में सिवा यीशु के कार्य्य-कलाप और उन्हीं के गुणगानों के और कुछ नहीं। इसी से वह अपनी पहली तीन शताब्दियों में संसार के सामने अपने को परिचित नहीं कर सका और यही नहीं, उस में विद्वानों का आदर भी नहीं। हम पूछते हैं—सब से पहले जिस यूरोपी पण्डित ने यह साबित किया कि पृथ्वी सचला है, क्रिश्चियन धर्म्म ने उस को उस की इस गवेषणा के उपलक्ष में क्या पुरस्कार दिया? कौनसा वैज्ञानिक ऐसा है जो क्रिश्चियन धर्म का अनुमोदित है? हां मुसल्मानी साहित्य में यह बात नहीं है, वहां गुणवान् का आदर है, इसी से वह अपनी पहली तीन शताब्दियों में सब की अपेक्षा शीघ्र ही उन्नति लाभ कर गया। वहां कोई विज्ञान वा साहित्य नहीं जो प्रत्यक्ष या परोक्षभाव से और हदीश की बहुत सी आयतों से अनुमोदित और उत्साहित